रचना संसार

मध्यकालीन कवि एवं उनकी प्रमुख पुस्तकें

Rachna Sansar: Medieval Poets and Their Major Books

साहिल सक्सेना

रचना संसार : मध्यकालीन कवि एवं उनकी प्रमुख पुस्तकें

रचना संसार : मध्यकालीन कवि एवं उनकी प्रमुख पुस्तकें

(Rachna Sansar: Medieval Poets and Their Major Books)

साहिल सक्सेना

भाषा प्रकाशन

नई दिल्ली - 110002

© प्रकाशक

I.S.B.N. : 978-81-323-6114-5

प्रथम संस्करण : 2021

भाषा प्रकाशन

22, प्रकाशदीप बिल्डिंग, अंसारी रोड,
दरियागंज, नई दिल्ली - 110002

द्वारा वर्ल्ड टेक्नोलॉजीज नई दिल्ली के सहयोग से प्रकाशित

प्रस्तावना

हिन्दी साहित्य में भगवान श्रीकृष्ण के अनन्य उपासक और ब्रजभाषा के श्रेष्ठ कवि महात्मा सूरदास हिंदी साहित्य के सूर्य, माने जाते हैं। सूरदास जन्म से अंधे थे या नहीं, इस सम्बम्ध में विद्वानों में मतभेद हैं।

कबीर या भगत कबीर 15वीं सदी के भारतीय रहस्यवादी कवि और संत थे। वे हिन्दी साहित्य के भक्तिकालीन युग में ज्ञानाश्रयी-निर्गुण शाखा की काव्यधारा के प्रवर्तक थे। इनकी रचनाओं ने हिन्दी प्रदेश के भक्ति आंदोलन को गहरे स्तर तक प्रभावित किया।

विद्यापति भारतीय साहित्य की 'शृंगार-परम्परा' के साथ-साथ 'भक्ति-परम्परा' के प्रमुख स्तंभों में से एक और मैथिली के सर्वोपरि कवि के रूप में जाने जाते हैं। इनके काव्यों में मध्यकालीन मैथिली भाषा के स्वरूप का दर्शन किया जा सकता है। इन्हें वैष्णव, शैव और शाक्त भक्ति के सेतु के रूप में भी स्वीकार किया गया है। मिथिला के लोगों को 'देसिल बयना सब जन मिट्ठा' का सूत्र दे कर इन्होंने उत्तरी-बिहार में लोकभाषा की जनचेतना को जीवित करने का महान् प्रयास किया है।

मलिक मुहम्मद जायसी भक्तिकाल की निर्गुण प्रेमाश्रयी शाखा व मलिक वंश के कवि हैं। जायसी अत्यंत उच्चकोटि के सरल और उदार सूफी महात्मा थे। हिन्दी के प्रसिद्ध सूफी कवि, जिनके लिए केवल 'जायसी' शब्द का प्रयोग भी, उनके उपनाम की भाँति, किया जाता है। यह इस बात को भी सूचित करता

है कि वे जायस नगर के निवासी थे।

पुस्तक लेखन में कई लिखित व अलिखित स्रोतों से मदद ली गई है; मैं उन सभी विज्ञ लेखकों के प्रति अपना आभार प्रकट करता हूँ। आशा करता हूँ कि पुस्तक पाठकों के लिए उपयोगी होगी।

–लेखक

अनुक्रम

	प्रस्तावना	*v*
1.	**सूरदास**	**1**
	जीवन परिचय	1
	सूरदास की जाति	5
	काव्य-रस एव समीक्षा	9
2.	**कबीर**	**19**
	लहरतरब प्रगट्या स्थल	19
	कबीर का साहित्यिक परिचय	27
	कबीर भक्ति की साधना	38
	कबीर की रचनाएँ	43
3.	**रसखान**	**50**
	समाधि	50
	भक्ति	62
4.	**तुलसीदास**	**63**
	बचपन	64
	संस्कृत में पद्य-रचना	66
	रामाज्ञा प्रश्न	72
	विवाह	74

रामचरितमानस 80
5. विद्यापति 91
श्रृंगार रस के कवि विद्यापति 91
प्रमुख रचनाएँ 95
6. मलिक मुहम्मद जायसी 97
जन्म 97
शैली 106
7. पद्मावत 107
कथानक 107
नीतिज्ञों द्वारा विरोध 115
8. मीरां 123
जन्म तथा शिक्षा 123
विवाह 125
9. रविदास 137
जन्म 138
संत रैदास 139
महत्त्व 143
10. स्वामी हरिदास 145
जीवन परिचय 145
सम्बंधित प्रसंग 156
11. रहीम 158
जीवन परिचय 158
विवाह 161
खानखाना की युद्धनीति 165
साहित्यिक परिचय 171

1

सूरदास

सूरदास हिन्दी के भक्तिकाल के महान कवि थे।

श्री कृष्ण और सूरदास जी

हिन्दी साहित्य में भगवान श्रीकृष्ण के अनन्य उपासक और ब्रजभाषा के श्रेष्ठ कवि महात्मा सूरदास हिंदी साहित्य के सूर्य, माने जाते हैं। सूरदास जन्म से अंधे थे या नहीं, इस सम्बम्ध में विद्वानों में मतभेद हैं।

जीवन परिचय

सूरदास का जन्म 1478ई. में रुनकता नामक गाँव में हुआ। यह गाँव मथुरा-आगरा मार्ग के किनारे स्थित है। कुछ विद्वानों का मत है कि सूर का जन्म सीही नामक ग्राम में एक निर्धन सारस्वत ब्राह्मण परिवार में हुआ था। वह बहुत विद्वान थे, उनकी लोग आज भी चर्चा करते हैं। मथुरा के बीच गऊघाट पर आकर रहने लगे थे। सूरदास के पिता, रामदास गायक थे। सूरदास के जन्मांध होने के विषय में मतभेद है। प्रारंभ में सूरदास आगरा के समीप गऊघाट पर रहते थे। वहीं उनकी भेंट श्री वल्लभाचार्य से हुई और वे उनके शिष्य बन गए। वल्लभाचार्य ने उनको पुष्टिमार्ग में दीक्षित कर के कृष्णलीला के पद गाने का आदेश दिया। सूरदास की मृत्यु गोवर्धन के निकट पारसौली ग्राम में 1584 ईस्वी में हुई।

सूरदास की जन्मतिथि एवं जन्मस्थान के विषय में मतभेद

सूरदास की जन्मतिथि एवं जन्मस्थान के विषय में विद्वानों में मतभेद है। "साहित्य लहरी" सूर की लिखी रचना मानी जाती है। इसमें साहित्य लहरी के रचना-काल के सम्बन्ध में निम्न पद मिलता है–

मुनि पुनि के रस लेख।

दसन गौरीनन्द को लिखि सुवल संवत् पेख

इसका अर्थ संवत् 1607 ईस्वी में माना गया है, अतएव "साहित्य लहरी' का रचना काल संवत् 1607 वि. है। इस ग्रन्थ से यह भी प्रमाण मिलता है कि सूर के गुरु श्री वल्लभाचार्य थे।

सूरदास का जन्म सन् 1540 ईस्वी के लगभग ठहरता है, क्योंकि बल्लभ सम्प्रदाय में ऐसी मान्यता है कि बल्लभाचार्य सूरदास से दस दिन बड़े थे और बल्लभाचार्य का जन्म उक्त संवत् की वैशाख् कृष्ण एकादशी को हुआ था। इसलिए सूरदास की जन्म-तिथि वैशाख शुक्ला पंचमी, संवत् 1535 वि. समीचीन जान पड़ती है। अनेक प्रमाणों के आधार पर उनका मृत्यु संवत् 1620 से 1648 ईस्वी के मध्य स्वीकार किया जाता है। रामचन्द्र शुक्ल जी के मतानुसार सूरदास का जन्म संवत् 1540 वि. के सन्निकट और मृत्यु संवत् 1620 ईस्वी के आसपास माना जाता है।

श्री गुरु बल्लभ तत्त्व सुनायो लीला भेद बतायो

सूरदास की आयु "सूरसारावली' के अनुसार उस समय 67 वर्ष थी। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' के आधार पर उनका जन्म रुनकता अथवा रेणु का क्षेत्र (वर्तमान जिला आगरान्तर्गत) में हुआ था। मथुरा और आगरा के बीच गऊघाट पर ये निवास करते थे। बल्लभाचार्य से इनकी भेंट वहीं पर हुई थी। "भावप्रकाश' में सूर का जन्म स्थान सीही नामक ग्राम बताया गया है। वे सारस्वत ब्राह्मण थे और जन्म के अंधे थे। "आइने अकबरी' में (संवत् 1653 ईस्वी) तथा "मुतखबुत-तवारी" के अनुसार सूरदास को अकबर के दरबारी संगीतज्ञों में माना है।

क्या सूरदास जन्मान्ध थे?

सूरदास श्रीनाथ की "संस्कृतवार्ता मणिपाला', श्री हरिराय कृत "भाव-प्रकाश", श्री गोकुलनाथ की "निजवार्ता' आदि ग्रन्थों के आधार पर, जन्म के अन्धे माने

गए हैं। लेकिन राधा-कृष्ण के रूप सौन्दर्य का सजीव चित्रण, नाना रंगों का वर्णन, सूक्ष्म पर्यवेक्षणशीलता आदि गुणों के कारण अधिकतर वर्तमान विद्वान सूर को जन्मान्ध स्वीकार नहीं करते।

श्यामसुन्दर दास ने इस सम्बन्ध में लिखा है - "सूर वास्तव में जन्मान्ध नहीं थे, क्योंकि शृंगार तथा रंग-रूपादि का जो वर्णन उन्होंने किया है वैसा कोई जन्मान्ध नहीं कर सकता।" डॉक्टर (हजारीप्रसाद द्विवेदी), ने लिखा है - "सूरसागर के कुछ पदों से यह ध्वनि अवश्य निकलती है कि सूरदास अपने को जन्म का अन्धा और कर्म का अभागा कहते हैं, पर सब समय इसके अक्षरार्थ को ही प्रधान नहीं मानना चाहिए।"

रचनाएँ

सूरदास जी द्वारा लिखित पाँच ग्रन्थ बताए जाते हैं–

(1) सूरसागर - जो सूरदास की प्रसिद्ध रचना है। जिसमें सवा लाख पद संग्रहित थे। किंतु अब सात-आठ हजार पद ही मिलते हैं।
(2) सूरसारावली
(3) साहित्य-लहरी - जिसमें उनके कूट पद संकलित हैं।
(4) नल-दमयन्ती
(5) ब्याहलो
(6) 'पद संग्रह' दुर्लभ पद 7-gramar geet

उपरोक्त में अन्तिम दो अप्राप्य हैं।

नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित हस्तलिखित पुस्तकों की विवरण तालिका में सूरदास के 16 ग्रन्थों का उल्लेख है। इनमें सूरसागर, सूरसारावली, साहित्य लहरी, नल-दमयन्ती, ब्याहलो के अतिरिक्त दशमस्कंध टीका, नागलीला, भागवत, गोवर्धन लीला, सूरपचीसी, सूरसागर सार, प्राणप्यारी आदि ग्रन्थ सम्मिलित हैं। इनमें प्रारम्भ के तीन ग्रंथ ही महत्त्वपूर्ण समझे जाते हैं, साहित्य लहरी की प्राप्त प्रति में बहुत प्रक्षिप्तांश जुड़े हुए हैं।

साहित्य लहरी, सूरसागर, सूर की सारावली।
श्रीकृष्ण जी की बाल-छवि पर लेखनी अनुपम चली॥

सूरसागर का मुख्य वर्ण्य विषय श्री कृष्ण की लीलाओं का गान रहा है। सूरसारावली में कवि ने जिन कृष्ण विषयक कथात्मक और सेवा परक पदों का

गान किया उन्हीं के सार रूप में उन्होंने सारावली की रचना की है। सहित्यलहरी में सूर के दृष्टिकूट पद संकलित हैं।

सूरदास की काव्यगत विशेषताएँ

1. सूरदास के अनुसार भगवान श्रीकृष्ण के अनुग्रह से मनुष्य को सद्‌गति मिल सकती है। अटल भक्ति कर्मभेद, जातिभेद, ज्ञान, योग से श्रेष्ठ है।
2. सूर ने वात्सल्य, शृंगार और शांत रसों को मुख्य रूप से अपनाया है। सूर ने अपनी कल्पना और प्रतिभा के सहारे कृष्ण के बाल्य-रूप का अति सुंदर, सरस, सजीव और मनोवैज्ञानिक वर्णन किया है। बालकों की चपलता, स्पर्धा, अभिलाषा, आकांक्षा का वर्णन करने में विश्व व्यापी बाल-स्वरूप का चित्रण किया है। बाल-कृष्ण की एक-एक चेष्टा के चित्रण में कवि ने कमाल की होशियारी एवं सूक्ष्म निरीक्षण का परिचय दिया है–

मैया कबहिं बढ़ैगी चौटी?
किती बार मोहिं दूध पियत भई, यह अजहूँ है छोटी।

सूर के कृष्ण प्रेम और माधुर्य प्रतिमूर्ति है। जिसकी अभिव्यक्ति बड़ी ही स्वाभाविक और सजीव रूप में हुई है।

3. जो कोमलकांत पदावली, भावानुकूल शब्द-चयन, सार्थक अलंकार-योजना, धारावाही प्रवाह, संगीतात्मकता एवं सजीवता सूर की भाषा में है, उसे देखकर तो यही कहना पड़ता है कि सूर ने ही सर्व प्रथम ब्रजभाषा को साहित्यिक रूप दिया है।
4. सूर ने भक्ति के साथ शृंगार को जोड़कर उसके संयोग-वियोग पक्षों का जैसा वर्णन किया है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।
5. सूर ने विनय के पद भी रचे हैं, जिसमें उनकी दास्य-भावना कहीं-कहीं तुलसीदास से आगे बढ़ जाती है–

हमारे प्रभु औगुन चित न धरौ।
समदरसी है मान तुम्हारौ, सोई पार करौ।

6. सूर ने स्थान-स्थान पर कूट पद भी लिखे हैं।
7 प्रेम के स्वच्छ और मार्जित रूप का चित्रण भारतीय साहित्य में किसी और कवि ने नहीं किया है यह सूरदास की अपनी विशेषता है। वियोग के समय राधिका का जो चित्र सूरदास ने चित्रित किया है, वह इस प्रेम के योग्य है।

8. सूर ने यशोदा आदि के शील, गुण आदि का सुंदर चित्रण किया है।
9. सूर का भ्रमरगीत वियोग-शृंगार का ही उत्कृष्ट ग्रंथ नहीं है, उसमें सगुण और निर्गुण का भी विवेचन हुआ है। इसमें विशेषकर उद्धव-गोपी संवादों में हास्य-व्यंग्य के अच्छे छींटे भी मिलते हैं।
10. सूर काव्य में प्रकृति-सौंदर्य का सूक्ष्म और सजीव वर्णन मिलता है।
11. सूर की कविता में पुराने आख्यानों और कथनों का उल्लेख बहुत स्थानों में मिलता है।
12. सूर के गेय पदों में हृदयस्थ भावों की बड़ी सुंदर व्यजना हुई है। उनके कृष्ण-लीला संबंधी पदों में सूर के भक्त और कवि हृदय की सुंदर झाँकी मिलती है।
13. सूर का काव्य भाव-पक्ष की दृष्टि से ही महान नहीं है, कला-पक्ष की दृष्टि से भी वह उतना ही महत्त्वपूर्ण है। सूर की भाषा सरल, स्वाभाविक तथा वाग्वैदिग्धपूर्ण है। अलंकार-योजना की दृष्टि से भी उनका कला-पक्ष सबल है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने सूर की कवित्व-शक्ति के बारे में लिखा है-

सूरदास जब अपने प्रिय विषय का वर्णन शुरू करते हैं तो मानो अलंकार-शास्त्र हाथ जोड़कर उनके पीछे-पीछे दौड़ा करता है। उपमाओं की बाढ़ आ जाती है, रूपकों की वर्षा होने लगती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सूरदास हिंदी साहित्य के महाकवि हैं, क्योंकि उन्होंने न केवल भाव और भाषा की दृष्टि से साहित्य को सुसज्जित किया, वरन् कृष्ण-काव्य की विशिष्ट परंपरा को भी जन्म दिया।

सूरदास की जाति

सूरदास हिन्दी साहित्य में भक्तिकाल में कृष्ण भक्ति के भक्त कवियों में अग्रणी हैं। महाकवि सूरदास जी वात्सल्य रस के सम्राट माने जाते हैं। उन्होंने शृंगार और शान्त रसों का भी बड़ा मर्मस्पर्शी वर्णन किया है। उनका जन्म मथुरा-आगरा मार्ग पर स्थित रुनकता नामक गांव में हुआ था। कुछ लोगों का कहना है कि सूरदास जी का जन्म सीही नामक ग्राम में एक निर्धन सारस्वत ब्राह्मण परिवार में हुआ था। बाद में वह आगरा और मथुरा के बीच गऊघाट पर आकर रहने लगे थे। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी के मतानुसार सूरदास का जन्म संवत् 1540 विक्रमी के सन्निकट और मृत्यु संवत् 1620 विक्रमी के आसपास मानी जाती है।

जाति सम्बन्धी वाद-विवाद

सूरदास की जाति के सम्बन्ध में भी बहुत वाद-विवाद हुआ है। 'साहित्य लहरी' के उपर्युक्त पद के अनुसार कुछ समय तक सूरदास को 'भट्ट' या 'ब्रह्मभट्ट' माना जाता रहा। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने इस विषय में प्रसन्नता प्रकट की थी कि सूरदास महाकवि चन्दबरदाई के वंशज थे, किन्तु बाद में अधिकतर पुष्टिमार्गीय स्रोतों के आधार पर यह प्रसिद्ध हुआ कि वे सारस्वत ब्राह्मण थे।

बहुत कुछ इसी आधार पर 'साहित्य लहरी' का वंशावली वाला पद अप्रामाणिक माना गया। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में मूलत: सूरदास की जाति के विषय में कोई उल्लेख नहीं था, परन्तु गोसाई हरिराय द्वारा बढ़ाये गये 'वार्ता' के अंश में उन्हें सारस्वत ब्राह्मण कहा गया है। उनके सारस्वत ब्राह्मण होने के प्रमाण पुष्टिमार्ग के अन्य वार्ता साहित्य से भी दिये गये हैं।

सूरदास पर जारी डाक टिकट

अत: अधिकतर यही माना जाने लगा है कि सूरदास सारस्वत ब्राह्मण थे, यद्यपि कुछ विद्वानों को इस विषय में अब भी सन्देह है।

डॉ. मंशीराम शर्मा ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि सूरदास ब्रह्मभट्ट ही थे। यह सम्भव है कि ब्रह्मभट्ट होने के नाते ही वे परम्परागत कवि-गायकों के वंशज होने के कारण 'सरस्वती पुत्र' और 'सारस्वत' नाम से विख्यात हो गये हों। अन्त: साक्ष्य से सूरदास के ब्राह्मण होने का कोई संकेत नहीं मिलता बल्कि इसके विपरीत अनेक पदों में उन्होंने ब्राह्मणों की हीनता का उल्लेख किया है।

इस विषय में श्रीधर ब्राह्मण के अंग-भंग तथा महराने के पाँड़ेवाले प्रसंग दृष्टव्य हैं। ये दोनों प्रसंग 'भागवत' से स्वतन्त्र सूरदास द्वारा कल्पित हुए जान पड़ते हैं। इनमें सूरदास ने बड़ी निर्ममता पूर्वक ब्राह्मणत्व के प्रति निरादर का भाव प्रकट किया है। अजामिल तथा सुदामा के प्रसंगों में भी उनकी उच्च जाति का उल्लेख करते हुए सूर ने ब्राह्मणत्व के साथ कोई ममता नहीं प्रकट की।

इसके अतिरिक्त सम्पूर्ण 'सूरसागर' में ऐसा कोई संकेत नहीं मिलता, जिससे इसका किंचित् भी आभास मिल सके कि सूर ब्राह्मण जाति के सम्बन्ध में कोई आत्मीयता का भाव रखते थे। वस्तुत: जाति के सम्बन्ध में वे पूर्ण रूप से उदासीन थे। दानलीला के एक पद में उन्होंने स्पष्ट रूप में कहा है कि कृष्ण

की भक्ति के लिए उन्होंने अपनी जाति ही छोड़ दी थी। वे सच्चे अर्थों में हरि भक्तों की जाति के थे, किसी अन्य जाति से उनका कोई सम्बन्ध नहीं था।

सूरदास की भक्ति भावना

'भक्ति' शब्द की निर्मिति 'भज्' धातु में 'क्विन्' प्रत्यय लगाने से हुई है, जिसका अर्थ होता है- 'ईश्वर के प्रति सेवा भाव।' शाण्डिल्य भक्ति-सूत्र में भी यही बात दुहराई गयी है कि 'सापरानुरक्तिरीश्वरे' अर्थात 'ईश्वर में पर अनुरक्ति ही भक्ति है।' नारदभक्तिसूत्र के अनुसार- "भक्ति ईश्वर के प्रति परम-प्रेमरूपा और अमृत स्वरूप है।" सूरदास के गुरु वल्लभाचार्य ने भी भक्ति के विषय में अपना प्रकट किया है कि 'ईश्वर में सुदृढ़ और सनत स्नेह ही भक्ति है।'

सूरदास की भक्ति

सूरदास वल्लभाचार्य के शिष्य थे। उनके काव्य में वल्लभाचार्य द्वारा प्रतिपादित कृष्ण स्वरूप की प्रतिष्ठा स्वाभाविक रूप से हुई है। सूरदास की भक्ति में अंत:करण की प्रेरणा तथा अंतर की अनुभूति की प्रधानता है। उनके काव्य में अभिव्यक्त भक्ति-भावना के दो चरण देखे जा सकते हैं-

पहला चरण वल्लभाचार्य से मिलने के पूर्व का है, जिसमें सूरदास वल्लभ संप्रदाय में दीक्षित होने से पूर्व दैन्यभाव पर आधारित भक्ति के पदों की रचना कर रहे थे।

दूसरा चरण वल्लभाचार्य से मिलने के बाद आरंभ होता है, जब सूरदास वल्लभ संप्रदाय में दीक्षित होकर पुष्टिमार्गीय भक्ति पर आधारित भक्ति के पदों की रचना की ओर प्रवृत हुए। सूरदास की भक्ति भावना में इस प्रकार के पदों का बाहुल्य देखा जा सकता है।

दास्य भाव भक्ति

भक्ति मूलत: भावोद्गार है। सूरदास ने अपनी भक्ति में ईश्वर के समक्ष अनेक प्रकार की विनय भावना व्यक्त की है। सूरदास ने स्वयं को अपने ईश्वर का तुच्छ सेवक मानते हुए उनके समक्ष दैन्य प्रकट किया है। इस कारण सूरदास की भक्ति 'दास्य भाव' की भक्ति कहलाती है, जिसमें भक्त स्वयं को अपने ईश्वर का दास मानकर उनकी सेवा और भक्ति करता है। इस संदर्भ में एक कहावत प्रचलित है कि सूरदास जब गऊघाट पर रहते थे तो उन्हें वहां एक दिन

वल्लभाचार्य के आने का पता चला। सूरदास उचित समय पर वल्लभाचार्य से मिलने गए और उनके आदेश पर अपने रचित दो पद उन्हें गाकर भी सुनाए-

'हौं हरि सब पतितन कौ नायक'

एवं

'प्रभु! हौं सब पतितन कौ टीकौ।'

वल्लभाचार्य ने सूरदास के इन दीनतापूर्ण पदों को सुना और उन्होंने सूरदास से कहा कि-

"जो सूर ह्वै कै ऐसो घिघियात काहे को है? कुछ भगवत् लीला वर्णन करौ।"

इस पर सूरदास ने वल्लभाचार्य से कहा कि- "प्रभु! मुझे तो भगवान की लीलाओं का किंचित भी ज्ञान नहीं।" ऐसा सुनकर वल्लभाचार्य ने सूरदास को अपने संप्रदाय में स्वीकारते हुए पुष्टिमार्ग में दीक्षित करने का निश्चय किया। उन्होंने सूरदास को श्रीमद्भागवत के दशम स्कंध की बनाई हुई अपनी णिका सुनाई, जिसके पश्चात् सूरदास ने विनय के पदों का गान छोड़कर पुष्टिमार्गी परिपाटी के अनुसार ईश्वर की भक्ति का वर्णन करना आरंभ कर दिया। भक्ति भावना के प्रथम चरण में सूरदास 'ईश्वर-भक्ति' को इस संसार में व्याप्त भय एवं ताप से बाहर निकलने का एकमात्र रास्ता मानते हैं। उनका अनुराग ईश्वर के प्रति अप्रतिम है, इसलिए सांसारिकता के प्रति उन्होंने विराग भाव व्यक्त किया है। सांसारिक सुखों की निंदा करते हुए सूरदास ने सभी सांसारिक कार्यों, सुखों और अवस्थाओं को दोषपूर्ण माना है। उनका मानना था कि निष्पक्ष आंखों से देखने पर ही अपने भीतर की अच्छाईयां और बुराईयां दिखाई पड़ती हैं और खुद के प्रति बरती गयी यही इमानदारी भक्त के हृदय में दैन्य भाव को जगाती है। इसी कारण सूरदास के विनय वर्णित इन आरंभिक पदों में दैन्य भावों की प्रधानता है। ईश्वर के गुणों की अधिकता और उनके समक्ष अपनी लघुता का भाव उन्होंने सूरसागर के आरंभ में बार-बार प्रकट किया है। वे कहते हैं कि अगर उन्होंने ईश्वर-भक्ति नहीं की तो उनका इस संसार में जन्म लेना ही व्यर्थ है-

"सूरदास भगवंत भजन बिनु धरनी जननी बोझ कत मारी"

"सूरदास प्रभु तुम्हरे भजन बिनु जैसे सूकर स्वान-सियार"

सूरदास का भक्त हृदय इतिहास और पुराण के अनेक उद्धरणों के माध्यम से भक्तों पर ईश्वरी कृपा के महत्त्व का प्रतिपादन करता है। अहिल्या, गणिका, अजामिल, गज, द्रौपदी, प्रह्लाद आदि उदाहरणों के माध्यम से सूरदास यह स्थापित

करते हैं कि कैसे ईश्वर अपने भक्तों पर कृपा की बौछार बरसाते हैं। सूरदास का भक्त हृदय ऐसा स्मरण कर स्वयं को संतुष्ट करता है–

"गज गनिका गौतम तिय तारी। सूरदास सठ सरन तुम्हारी।"

सूरदास का मानना था कि ईश्वर अपने भक्तों पर असीम कृपा करते हैं। इसलिए उन्होंने ईश्वर को भक्ति वत्सल और हितकारी कहा है–

"ऐसे कान्ह भक्त हितकारी, प्रभु तेरो वचन भरोसौ सांचौ।"

अपनी दुर्दशा के वर्णन द्वारा सूरदास प्रभु शरण में जाने की इच्छा बार–बार व्यक्त करते हैं–

"अबकि राखि लेहु भगवाना"

सूरदास के इस चरण की भक्ति पर संत कवियों की वाणी का भी प्रभाव दिखाई पड़ता है। इस दौर में माया से संबंधित अनेक पदों की रचना करते हुए उन्होंने माया की भर्त्सना ठीक संत कवियों जैसी ही की है। यद्यपि आगे चलकर उन्होंने निर्गुण भक्ति पर गहरा प्रहार भी किया, लेकिन उनकी भक्ति भावना के निरूपण के इस आरंभिक चरण में उन पर संत कवियों का प्रभाव पड़ा। कुल मिलाकर 'संसार से विराग और ईश्वर से राग' यही सूरदास की आरंभिक दौर की भक्ति का मूल आधार रहा है, जिसे उन्होंने बड़ी तल्लीनता के साथ व्यक्त किया है।

काव्य–रस एव समीक्षा

सूरदास जी वात्सल्यरस के सम्राट माने गए हैं। उन्होंने श्रृंगार और शान्त रसों का भी बड़ा मर्मस्पर्शी वर्णन किया है। बालकृष्ण की लीलाओं को उन्होंने अन्तःचक्षुओं से इतने सुन्दर, मोहक, यथार्थ एवं व्यापक रूप में देखा था, जितना कोई आँख वाला भी नहीं देख सकता। वात्सल्य का वर्णन करते हुए वे इतने अधिक भाव–विभोर हो उठते हैं कि संसार का कोई आकर्षण फिर उनके लिए शेष नहीं रह जाता।

सूर ने कृष्ण की बाललीला का जो चित्रण किया है, वह अद्वितीय व अनुपम है। डॉक्टर हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने लिखा है – "संसार के साहित्य की बात कहना तो कठिन है, क्योंकि वह बहुत बड़ा है और उसका एक अंश मात्र हमारा जाना है, परन्तु हमारे जाने हुए साहित्य में इनी तत्परता, मनोहारिता और सरसता के साथ लिखी हुई बाललीला अलभ्य है। बालकृष्ण की एक–एक चेष्टा के चित्रण में कवि कमाल की होशियारी और सूक्ष्म निरीक्षण का परिचय देता

है। न उसे शब्दों की कमी होती है, न अलंकार की, न भावों की, न भाषा की। अपने-आपको पिटाकर, अपना सर्व निछावर करके जो तन्मयता प्राप्त होती है वही श्रीकृष्ण की इस बाल-लीला को संसार का अद्वितीय काव्य बनाए हुए है।"

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी इनकी बाललीला-वर्णन की प्रशंसा में लिखा है - "गोस्वामी तुलसी जी ने गीतावली में बाललीला को इनकी देखा-देखी बहुत विस्तार दिया सही, पर उसमें बाल-सुलभ भावों और चेष्टाओं की वह प्रचुरता नहीं आई, उसमें रुप-वर्णन की ही प्रचुरता रही। बाल-चेष्टा का निम्न उदाहरण देखिए -

मैया कवहिं बढ़ेगी चोटी?
कितिक बार मोहि दूध पियत भई,
यह अजहूँ है छोटी।
तू जो कहति "बल" की बेनी
ज्यों ह्यववै है लाँबी मोटी।।
खेलत में को काको गोसैयाँ
जाति-पाँति हमतें कछु नाहिं,
न बसत तुम्हारी छैयाँ।
अति अधिकार जनावत यातें,
अधिक तुम्हारे हैं कछु गैयाँ।
सोभित कर नवनीत लिए।
घुटरुन चलत रेनु तन मंडित,
मुख दधि लेप किए।।

सूर के शान्त रस वर्णनों में एक सच्चे हृदय की तस्वीर अति मार्मिक शब्दों में मिलती है।

कहा करौ बैकुठहि जाय?
जहँ नहिं नन्द, जहाँ न जसोदा,
नहिं जहँ गोपी ग्वाल न गाय।
जहँ नहिं जल जमुना को निर्मल
और नहीं कदमन की छाँय।
परमानन्द प्रभु चतुर ग्वालिनी,
ब्रजरज तजि मेरी जाय बलाय।

कुछ पदों के भाव भी बिल्कुल मिलते हैं, जैसे-

अनुखन माधव माधव सुमिरइत सुंदर भेलि मधाई।
ओ निज भाव सुभावहि बिसरल अपने गुन लुबधाई।।
भोरहि सहचरि कातर दिठि हेरि छल छल लोचन पानि।
अनुखन राधा राधा रटइत आधा आधा बानि।।
राधा सयँ जब पनितहि माधव, माधव सयँ जब राधा।
दारुन प्रेम तबहि नहिं टूटत बाढ़त बिरह क बाधा।।
दुहुँ दिसि दारु दहन जइसे दगधइ, आकुल कोट-परान।
ऐसन बल्लभ हेरि सुधामुखि कबि विद्यापति भान।।

इस पद्य का भावार्थ यह है कि प्रतिक्षण कृष्ण का स्मरण करते करते राधा कृष्णरूप हो जाती हैं और अपने को कृष्ण समझकर राधा के वियोग में "राधा राधा' रटने लगती हैं। फिर जब होश में आती हैं तब कृष्ण के विरह से संतप्त होकर फिर 'कृष्ण कृष्ण' करने लगती हैं।

सुनौ स्याम! यह बात और काउ क्यों समझाय कहै।
दुहुँ दिसि की रति बिरह बिरहिनी कैसे कै जो सहै।।
जब राधे, तब ही मुख "माधौ माधौ' रटति रहै।
जब माधो ह्मवै जाति, सकल तनु राधा - विरह रहै।।
उभय अग्र दव दारुकीट ज्यों सीतलताहि चहै।
सूरदास अति बिकल बिरहिनी कैसेहु सुख न लहै।।

सूरसागर में जगह जगह दृष्टिकूटवाले पद मिलते हैं। यह भी विद्यापति का अनुकरण है। "सारंग" शब्द को लेकर सूर ने कई जगह कूट पद कहे हैं। विद्यापति की पदावली में इसी प्रकार का एक कूट देखिए -

सारँग नयन, बयन पुनि सारँग,
सारँग तसु समधाने।
सारँग उपर उगल दस सारँग
केलि करथि मधु पाने।।

पच्छिमी हिन्दी बोलने वाले सारे प्रदेशों में गीतों की भाषा ब्रज ही थी। दिल्ली के आसपास भी गीत ब्रजभाषा में ही गाए जाते थे, यह हम खुसरो (संवत् 1340) के गीतों में दिखा आए हैं। कबीर (संवत् 1560) के प्रसंग में कहा जा चुका है कि उनकी "साखी' की भाषा 'तोसधुक्कड़ी' है, पर पदों की भाषा काव्य में प्रचलित ब्रजभाषा है। यह एक पद तो कबीर और सूर दोनों की रचनाओं के भीतर ज्यों का त्यों मिलता है–

है हरिभजन का परवाँन।
नीच पावै ऊँच पदवी,
बाजते नीसान।
भजन को परताप ऐसो
तिरे जल पापान।
अधम भील, अजाति गनिका
चढ़े जात बिवाँन।।
नवलख तारा चलै मंडल,
चले ससहर भान।
दास धू कौं अटल
पदवी राम को दीवान।।
निगम जामी साखि बोलैं
कथैं संत सुजान।
जन कबीर तेरी सरनि आयौ,
राखि लेहु भगवान।।
(कबीर ग्रंथावली)
है हरि-भजन को परमान।
नीच पावै ऊँच पदवी,
बाजते नीसान।
भजन को परताप ऐसो
जल तरै पाषान।
अजामिल अरु भील गनिका
चढ़े जात विमान।।
चलत तारे सकल, मंडल,
चलत ससि अरु भान।
भक्त ध्रुव की अटल पदवी
राम को दीवान।।
निगम जाको सुजस गावत,
सुनत संत सुजान।
सूर हरि की सरन आयौ,
राखि ले भगवान।।

(सूरसागर)

कबीर की सबसे प्राचीन प्रति में भी यह पद मिलता है, इससे नहीं कहा जा सकता है कि सूर की रचनाओं के भीतर यह कैसे पहुँच गया।

राधाकृष्ण की प्रेमलीला के गीत सूर के पहले से चले आते थे, यह तो कहा ही जा चुका है। बैजू बावरा एक प्रसिद्ध गवैया हो गया है जिसकी ख्याति तानसेन के पहले देश में फैली हुई थी। उसका एक पद देखिए–

मुरली बजाय रिझाय लई मुख मोहन तें।
गोपी रीझि रही रसतानन सों सुधबुध सब बिसराई।
धुनि सुनि मन मोहे, मगन भई देखत हरि आनन।
जीव जंतु पसु पंछी सुर नर मुनि मोहे, हरे सब के प्रानन।
बैजू बनवारी बंसी अधर धरि बृंदाबन चंदबस किए सुनत ही कानन।।

जिस प्रकार रामचरित का गान करने वाले भक्त कवियों में गोस्वामी तुलसीदासजी का स्थान सर्वश्रेष्ठ है उसी प्रकार कृष्णचरित गाने वाले भक्त कवियों में महात्मा सूरदासजी का। वास्तव में ये हिंदी काव्यगगन के सूर्य और चंद्र हैं। जो तन्मयता इन दोनों भक्तशिरोमणि कवियों की वाणी में पाई जाती है वह अन्य कवियों में कहां। हिन्दी काव्य इन्हीं के प्रभाव से अमर हुआ। इन्हीं की सरसता से उसका स्रोत सूखने न पाया।

उत्तम पद कवि गंग के,
कविता को बलबीर।
केशव अर्थ गँभीर को,
सुर तीन गुन धीर।।

इसी प्रकार यह दोहा भी बहुत प्रसिद्ध है–

किधौं सूर को सर लग्यो,
किधौं सूर की पीर।
किधौं सूर को पद लग्यो,
बेध्यो सकल सरीर।।

यद्यपि तुलसी के समान सूर का काव्यक्षेत्र इतना व्यापक नहीं कि उसमें जीवन की भिन्न भिन्न दशाओं का समावेश हो पर जिस परिमित पुण्यभूमि में उनकी वाणी ने संचरण किया उसका कोई कोना अछूता न छूटा। शृंगार और वात्सल्य के क्षेत्र में जहाँ तक इनकी दृष्टि पहुँची वहाँ तक ओर किसी कवि की नहीं।

काहे को आरि करत मेरे मोहन!
यों तुम आँगन लोटी?
जो माँगहु सो देहुँ मनोहर,
य है बात तेरी खोटी।।
सूरदास को ठाकुर ठाढ़ो
हाथ लकुट लिए छोटी।।
सोभित कर नवनीत लिए।
घुटुरुन चलत रेनु - तन - मंडित,
मुख दधि-लेप किए।।
सिखवत चलन जसोदा मैया।
अरबराय कर पानि गहावति,
डगमगाय धरै पैयाँ।।
पाहुनि करि दै तरक मह्यौ।
आरि करै मनमोहन मेरो,
अंचल आनि गह्यो।।
व्याकुल मथत मथनियाँ रीती,
दधि भ्वै ढरकि रह्यो।।

बालकों के स्वाभाविक भावों की व्यंजना के न जाने कितने सुंदर पद भरे पड़े हैं। "स्पर्धा' का कैसा सुंदर भाव इस प्रसिद्ध पद में आया है -

मैया कबहिं बढ़ैगी चीटी?
कितिक बार मोहिं दूध पियत भई,
वह अजहूँ है छोटी।
तू जो कहति "बल' की बेनी ज्यों
ह्यवै है लाँबी मोटी।।

इसी प्रकार बालकों के क्षोभ के यह वचन देखिए–

खेलत में को काको गोसैयाँ?
जाति पाँति हम तें कछु नाहिं,
न बसत तुम्हारी छैयाँ।
अति अधिकार जनावत यातें,
अधिक तुम्हारे हैं कछु गैयाँ।।

वात्सल्य के समान ही शृंगार के संयोग और वियोग दोनों पक्षों का इतना प्रचुर विस्तार और किसी कवि में नहीं। गोकुल में जब तक श्रीकृष्ण रहे तब तक का उनका सारा जीवन ही संयोग पक्ष है।

करि ल्यौ न्यारी,
हरि आपनि गैयाँ।
नहिंन बसात लाल कछु तुमसों
सबै ग्वाल इक ठैयाँ।
धेनु दुहत अति ही रति बाढ़ी।
एक धार दोहनि पहुँचावत,
एक धार जहँ प्यारी ठाढ़ी।।
मोहन कर तें धार चलति पय
मोहनि मुख अति ह छवि बाढ़ी।।

राधा कृष्ण के रूप वर्णन में ही सैकड़ों पद कहे गए हैं नियमें उपमा, रुपक और उत्प्रेक्षा आदि की प्रचुरता है। आँख पर ही न जाने कितनी उक्तियाँ हैं–

देखि री! हरि के चंचल नैन।
खंजन मीन मृगज चपलाई,
नहिं पटतर एक सैन।।
राजिवदल इंदीवर, शतदल,
कमल, कुशेशय जाति।
निसि मुद्रित प्रातहि वै बिगसत, ये बिगसे दिन राति।।
अरुन असित सित झलक पलक प्रति,
को बरनै उपमाय।
मनो सरस्वति गंग जमुन
मिलि आगम कीन्हों आय।।

नेत्रों के प्रति उपालंभ भी कहीं कहीं बड़े मनोहर हैं–

सींचत नैन-नीर के, सजनी! मूल पतार गई।
बिगसति लता सभाय आपने छाया सघन भई।।
अब कैसे निरुवारौं, सजनी! सब तन पसरि छई।

सूरसागर का सबसे मर्मस्पर्शी और वाग्वैदग्ध्यपूर्ण अंश भ्रमरगीत है जिसमें गोपियों की वचनवक्रता अत्यंत मनोहारिणी है। ऐसा सुंदर उपालंभ काव्य और कहीं नहीं मिलता। उद्धव तो अपने निर्गुण ब्रह्मज्ञान और योग कथा द्वारा गोपियों

को प्रेम से विरत करना चाहते हैं और गोपियाँ उन्हें कभी पेट भर बनाती हैं, कभी उनसे अपनी विवशता और दीनता का निवेदन करती हैं–

उधो! तुम अपनी जतन करौ
हित की कहत कुहित की लागै,
किन बेकाज ररौ?
जाय करौ उपचार आपनो,
हम जो कहति हैं जी की।
कछू कहत कछुवै कहि डारत,
धुन देखियत नहिं नीकी।

इस भ्रमरगीत का महत्त्व एक बात से और बढ़ गया है। भक्तशिरोमणि सूर ने इसमें सगुणोपासना का निरुपण बड़े ही मार्मिक ढंग से, हृदय की अनुभूति के आधार पर तर्कपद्धति पर नहीं - किया है। सगुण निर्गुण का यह प्रसंग सूर अपनी ओर से लाए हैं। जब उद्धव बहुत सा वाग्विस्तार करके निर्गुण ब्रह्म की उपासना का उपदेश बराबर देते चले जाते हैं, तब गोपियाँ बीच में रेककर इस प्रकार पूछती हैं–

निर्गुन कौन देस को बासी?
मधुकर हँसि समुझाय,
सौह दै बूझति साँच, न हाँसी।

और कहती हैं कि चारों ओर भासित इस सगुण सत्ता का निषेध करक तू क्यों व्यर्थ उसके अव्यक्त और अनिर्दिष्ट पक्ष को लेकर यों ही बक-बक करता है।

सुनिहै कथा कौन निर्गुन की,
रचि पचि बात बनावत।
सगुन - सुमेरु प्रगट देखियत,
तुम तृन की ओट दुरावत।।

उस निर्गुण और अव्यक्त का मानव हृदय के साथ भी कोई सम्बन्ध हो सकता है, यह तो बताओ–

रेख न रुप, बरन जाके नहिं ताको हमैं बतावत।
अपनी कहौ, दरस ऐसे को तु कबहूँ हौ पावत?
मुरली अधर धरत है सो, पुनि गोधन बन बन चारत?
नैन विसाल, भौंह बंकट करि देख्यो कबहुँ निहारत?

तन त्रिभंग करि, नटवर वपु धरि, पीतांबर तेहि सोहत?
सूर श्याम ज्यों देत हमैं सुख त्यौं तुमको सोउ मोहत?

अन्त में वे यह कहकर बात समाप्त करती हैं कि तुम्हारे निर्गुण से तो हमें कृष्ण के अवगुण में ही अधिक रस जान पड़ता है–

ऊनो कर्म कियो मातुल बधि,
मदिरा मत्त प्रमाद।
सूर श्याम एते अवगुन में
निर्गुन नें अति स्वाद।।

(सूरसागर)

सूरसागर में लगभग एक लाख पद होने की बात कही जाती है। किन्तु वर्तमान संस्करणों में लगभग पाँच हजार पद ही मिलते हैं। विभिन्न स्थानों पर इसकी सौ से भी अधिक प्रतिलिपियाँ प्राप्त हुई हैं, जिनका प्रतिलिपि काल संवत् 1658 वि. से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी तक है इनमें प्राचीनतम प्रतिलिपि नाथद्वारा (मेवाड़) के "सरस्वती भण्डार' में सुरक्षित पायी गई है।

सूरसागर सूरदासजी का प्रधान एवं महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें प्रथम नौ अध्याय संक्षिप्त है, पर दशम स्कन्ध का बहुत विस्तार हो गया है। इसमें भक्ति की प्रधानता है। इसके दो प्रसंग "कृष्ण की बाल-लीला' और "भ्रमर-गीतसार' अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

सूरसागर की सराहना करते हुए डॉक्टर हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है – "काव्य गुणों की इस विशाल वनस्थली में एक अपना सहज सौन्दर्य है। वह उस रमणीय उद्यान के समान नहीं जिसका सौन्दर्य पद-पद पर माली के कृतित्व की याद दिलाता है, बल्कि उस अकृत्रिम वन-भूमि की भाँति है जिसका रचयिता रचना में घुलमिल गया है। " दार्शनिक विचारों की दृष्टि से "भागवत' और "सूरसागर' में पर्याप्त अन्तर है।

सूर सारावली

इसमें 1107 छन्द हैं। यह सम्पूर्ण ग्रन्थ एक "वृहद् होली' गीत के रूप में रचित हैं। इसकी टेक है – "खेलत यह विधि हरि होरी हो, हरि होरी हो वेद विदित यह बात।" इसका रचना-काल संवत् 1602 वि. निश्चित किया गया है, क्योंकि इसकी रचना सूर के 67वें वर्ष में हुई थी।

साहित्य लहरी

यह 118 पदों की एक लघु रचना है। इसके अन्तिम पद में सूरदास का वंशवृक्ष दिया है, जिसके अनुसार सूरदास का नाम सूरजदास है और वे चन्दबरदायी के वंशज सिद्ध होते हैं। अब इसे प्रक्षिप्त अंश माना गया है और शेष रचना पूर्ण प्रामाणिक मानी गई है। इसमें रस, अलंकार और नायिका-भेद का प्रतिपादन किया गया है। इस कृति का रचना-काल स्वयं कवि ने दे दिया है जिससे यह संवत् विक्रमी में रचित सिद्ध होती है। रस की दृष्टि से यह ग्रन्थ विशुद्ध शृंगार की कोटि में आता है।

2

कबीर

कबीर या भगत कबीर 15वीं सदी के भारतीय रहस्यवादी कवि और संत थे। वे हिन्दी साहित्य के भक्तिकालीन युग में ज्ञानाश्रयी-निर्गुण शाखा की काव्यधारा के प्रवर्तक थे। इनकी रचनाओं ने हिन्दी प्रदेश के भक्ति आंदोलन को गहरे स्तर तक प्रभावित किया। उनका लेखन सिखों ? के आदि ग्रंथ में भी देखने को मिलता है।

वे हिन्दू धर्म व इस्लाम को न मानते हुए धर्म निरपेक्ष थे। उन्होंने समाज में फैली कुरीतियों, कर्मकांड, अंधविश्वास की निंदा की और सामाजिक बुराइयों की कड़ी आलोचना की थी। उनके जीवनकाल के दौरान हिन्दू और मुसलमान दोनों ने उन्हें अपने विचार के लिए धमकी दी थी।

कबीर पंथ नामक धार्मिक सम्प्रदाय इनकी शिक्षाओं के अनुयायी हैं।

लहरतरब प्रगट्या स्थल

कबीर के (लगभग 14वीं-15वीं शताब्दी) जन्म स्थान के बारे में विद्वानों में मतभेद है परन्तु अधिकतर विद्वान इनका जन्म काशी में ही मानते हैं, जिसकी पुष्टि स्वयं कबीर का यह कथन भी करता है।

"काशी में परगट भये, रामानंद चेताये"

कबीर के गुरु के सम्बन्ध में प्रचलित कथन है कि कबीर को उपयुक्त गुरु की तलाश थी। वह वैष्णव संत आचार्य रामानंद को अपना अपना गुरु बनाना

चाहते थे लेकिन उन्होंने कबीर को शिष्य बनाने से मना कर दिया। कबीर ने अपने मन में ठान लिया कि स्वामी रामानंद को ही हर कीमत पर अपना गुरु बनाऊंगा, इसके लिए कबीर के मन में एक विचार आया कि स्वामी रामानंद जी सुबह चार बजे गंगा स्नान करने जाते हैं उसके पहले ही उनके जाने के मार्ग में सीढ़ियों लेट जाऊंगा और उन्होंने ऐसा ही किया। एक दिन, एक पहर रात रहते ही कबीर पंचगंगा घाट की सीढ़ियों पर गिर पड़े। रामानन्द जी गंगास्नान करने के लिये सीढ़ियां पर उतर रहे थे कि तभी उनका पैर कबीर के शरीर पर पड़ गया। उनके मुख से तत्काल 'राम-राम' शब्द निकल पड़ा। उसी राम को कबीर ने दीक्षा-मन्त्र मान लिया और रामानन्द जी को अपना गुरु स्वीकार कर लिया। कबीर के ही शब्दों में-

काशी में परगट भये, रामानंद चेताये
जीविकोपार्जन के लिए कबीर जुलाहे का काम करते थे।

कबीर की दृढ़ मान्यता थी कि कर्मों के अनुसार ही गति मिलती है स्थान विशेष के कारण नहीं। अपनी इस मान्यता को सिद्ध करने के लिए अंत समय में वह मगहर चले गए, क्योंकि लोगों की मान्यता थी कि काशी में मरने पर स्वर्ग और मगहर में मरने पर नरक मिलता है। मगहर में उन्होंने अंतिम सांस ली। आज भी वहां पर मजार व समाधि स्थित है।

भाषा

कबीर की भाषा सधुक्कड़ी एवं पंचमेल खिचड़ी है। इनकी भाषा में हिंदी भाषा की सभी बोलियों के शब्द सम्मिलित हैं। राजस्थानी, हरयाणवी, पंजाबी, खड़ी बोली, अवधी, ब्रजभाषा के शब्दों की बहुलता है।

कृतियां

धर्मदास ने उनकी वाणियों का संग्रह "बीजक" नाम के ग्रंथ में किया जिसके तीन मुख्य भाग हैं-साखी, सबद (पद), रमैनी।

साखी- संस्कृत ' साक्षी, शब्द का विकृत रूप है और धर्मोपदेश के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अधिकांश साखियां दोहों में लिखी गयी हैं पर उसमें सोरठे का भी प्रयोग मिलता है। कबीर की शिक्षाओं और सिद्धांतों का निरूपण अधिकतर साखी में हुआ है।

सबद गेय पद है जिसमें पूरी तरह संगीतात्मकता विद्यमान है। इनमें उपदेशात्मकता के स्थान पर भावावेश की प्रधानता है, क्योंकि इनमें कबीर के

प्रेम और अंतरंग साधना की अभिव्यक्ति हुई है। रमैनी चौपाई छंद में लिखी गयी है इनमें कबीर के रहस्यवादी और दार्शनिक विचारों को प्रकट किया गया है।

धर्म के प्रति

साधु संतों का तो घर में जमावड़ा रहता ही था। कबीर पढ़े-लिखे नहीं थे- 'मसि कागद छूवो नहीं, कलम गही नहिं हाथ। 'उन्होंने स्वयं ग्रंथ नहीं लिखे, मुंह से भाखे और उनके शिष्यों ने उसे लिख लिया। आप के समस्त विचारों में रामनाम की महिमा प्रतिध्वनित होती है। वे एक ही ईश्वर को मानते थे और कर्मकाण्ड के घोर विरोधी थे। "अवतार, मूर्त्तिपूजा, रोजा, ईद, मस्जिद, मंदिर आदि को वे नहीं मानते थे।

वे कभी कहते हैं-

'हरिमोर पिउ, मैं राम की बहुरिया' तो कभी कहते हैं, 'हरि जननी मैं बालक तोरा'।

और कभी "बड़ा हुआ तो क्या हुआ जैसै"

उस समय हिंदू जनता पर मुस्लिम आतंक का कहर छाया हुआ था। कबीर ने अपने पंथ को इस ढंग से सुनियोजित किया जिससे मुस्लिम मत की ओर झुकी हुई जनता सहज ही इनकी अनुयायी हो गयी। उन्होंने अपनी भाषा सरल और सुबोध रखी ताकि वह आम आदमी तक पहुंच सके। इससे दोनों सम्प्रदायों के परस्पर मिलन में सुविधा हुई। इनके पंथ मुसलमान-संस्कृति और गोभक्षण के विरोधी थे। कबीर को शांतिमय जीवन प्रिय था और वे अहिंसा, सत्य, सदाचार आदि गुणों के प्रशंसक थे। अपनी सरलता, साधु स्वभाव तथा संत प्रवृत्ति के कारण आज विदेशों में भी उनका समादर हो रहा है।

उसी हालत में उन्होंने बनारस छोड़ा और आत्मनिरीक्षण तथा आत्मपरीक्षण करने के लिये देश के विभिन्न भागों की यात्राएं कीं इसी क्रम में वे कालिंजर जिले के पिथौराबाद शहर में पहुंचे। वहां रामकृष्ण का छोटा सा मन्दिर था। वहां के संत भगवान गोस्वामी के जिज्ञासु साधक थे किंतु उनके तर्कों का अभी तक पूरी तरह समाधान नहीं हुआ था। संत कबीर से उनका विचार-विनिमय हुआ। कबीर की एक साखी ने उन के मन पर गहरा असर किया-

'बन ते भागा बिहरे पड़ा, करहा अपनी बान। करहा बेदन कासों कहे, को करहा को जान।।'

वन से भाग कर बहेलिये के द्वारा खोये हुए गड्ढे में गिरा हुआ हाथी अपनी व्यथा किस से कहे?

सारांश यह कि धर्म की जिज्ञासा सें प्रेरित हो कर भगवान गोसाई अपना घर छोड़ कर बाहर तो निकल आये और हरिव्यासी सम्प्रदाय के गड्ढे में गिर कर अकेले निर्वासित हो कर असंवाद्य स्थिति में पड़ चुके हैं।

मूर्त्ति पूजा को लक्ष्य करते हुए उन्होंने एक साखी हाजिर कर दी–

पाहन पूजे हरि मिलैं, तो मैं पूजौं पहार। वा ते तो चाकी भली, पीसी खाय संसार।।

कबीर के राम

कबीर के राम तो अगम हैं और वे संसार के कण-कण में विराजते हैं। कबीर के राम इस्लाम के एकेश्वरवादी, एकसत्तावादी खुदा भी नहीं हैं। इस्लाम में खुदा या अल्लाह को समस्त जगत एवं जीवों से भिन्न एवं परम समर्थ माना जाता है। पर कबीर के राम परम समर्थ भले हों, लेकिन समस्त जीवों और जगत से भिन्न तो कदापि नहीं हैं। बल्कि इसके विपरीत वे तो सबमें व्याप्त रहने वाले रमता राम हैं। वह कहते हैं व्यापक ब्रह्म सबनिमैं एकै, को पंडित को जोगी। रावण-राव कवनसूं कवन वेद को रोगी।

कबीर राम की किसी खास रूपाकृति की कल्पना नहीं करते, क्योंकि रूपाकृति की कल्पना करते ही राम किसी खास ढांचे (फ्रेम) में बंध जाते, जो कबीर को किसी भी हालत में मंजूर नहीं। कबीर राम की अवधारणा को एक भिन्न और व्यापक स्वरूप देना चाहते थे। इसके कुछ विशेष कारण थे, जिनकी चर्चा हम इस लेख में आगे करेंगे। किन्तु इसके बावजूद कबीर राम के साथ एक व्यक्तिगत पारिवारिक किस्म का संबंध जरूर स्थापित करते हैं। राम के साथ उनका प्रेम उनकी अलौकिक और महिमाशाली सत्ता को एक क्षण भी भुलाए बगैर सहज प्रेमपरक मानवीय संबंधों के धरातल पर प्रतिष्ठित है।

कबीर नाम में विश्वास रखते हैं, रूप में नहीं। हालांकि भक्ति-संवेदना के सिद्धांतों में यह बात सामान्य रूप से प्रतिष्ठित है कि 'नाम रूप से बढ़कर है', लेकिन कबीर ने इस सामान्य सिद्धांत का क्रांतिधर्मी उपयोग किया। कबीर ने राम-नाम के साथ लोकमानस में शताब्दियों से रचे-बसे संश्लिष्ट भावों को उदात्त एवं व्यापक स्वरूप देकर उसे पुराण-प्रतिपादित ब्राह्मणवादी विचारधारा के खांचे में बांधे जाने से रोकने का प्रयास किया।

कबीर के राम निर्गुण-सगुण के भेद से परे हैं। वास्तव में उन्होंने अपने राम को शास्त्र-प्रतिपादित अवतारी, सगुण, वर्चस्वशील वर्णाश्रम व्यवस्था के संरक्षक राम से अलग करने के लिए ही 'निर्गुण राम' शब्द का प्रयोग किया– 'निर्गुण राम जपहु रे भाई।' इस 'निर्गुण' शब्द को लेकर भ्रम में पड़ने की आवश्यकता नहीं है। कबीर का आशय इस शब्द से सिर्फ इतना है कि ईश्वर को किसी नाम, रूप, गुण, काल आदि की सीमाओं में बांधा नहीं जा सकता। जो सारी सीमाओं से परे हैं और फिर भी सर्वत्र हैं, वही कबीर के निर्गुण राम हैं। इसे उन्होंने 'रमता राम' नाम दिया है। अपने राम को निर्गुण विशेषण देने के बावजूद कबीर उनके साथ मानवीय प्रेम संबंधों की तरह के रिश्ते की बात करते हैं। कभी वह राम को माधुर्य भाव से अपना प्रेमी या पति मान लेते हैं तो कभी दास्य भाव से स्वामी। कभी-कभी वह राम को वात्सल्य मूर्ति के रूप में मां मान लेते हैं और खुद को उनका पुत्र। निर्गुण-निराकार ब्रह्म के साथ भी इस तरह का सरस, सहज, मानवीय प्रेम कबीर की भक्ति की विलक्षणता है। यह दुविधा और समस्या दूसरों को भले हो सकती है कि जिस राम के साथ कबीर इतने अनन्य, मानवीय संबंधपरक प्रेम करते हों, वह भला निर्गुण कैसे हो सकते हैं, पर खुद कबीर के लिए यह समस्या नहीं है।

वह कहते भी हैं

"संतौ, धोखा कासूं कहिये। गुनमैं निरगुन, निरगुनमैं गुन, बाट छांड़ि क्यूं बहिसे!" नहीं है।

प्रोफेसर महावीर सरन जैन ने कबीर के राम एवं कबीर की साधना के संबंध में अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा है–"कबीर का सारा जीवन सत्य की खोज तथा असत्य के खंडन में व्यतीत हुआ। कबीर की साधना ''मानने से नहीं, ''जानने से आरम्भ होती है। वे किसी के शिष्य नहीं, रामानन्द द्वारा चेताये हुए चेला हैं। उनके लिए राम रूप नहीं है, दशरथी राम नहीं है, उनके राम तो नाम साधना के प्रतीक हैं। उनके राम किसी सम्प्रदाय, जाति या देश की सीमाओं में कैद नहीं है। प्रकृति के कण-कण में, अंग-अंग में रमण करने पर भी जिसे अनंग स्पर्श नहीं कर सकता, वे अलख, अविनाशी, परम तत्व ही राम हैं। उनके राम मनुष्य और मनुष्य के बीच किसी भेद-भाव के कारक नहीं हैं। वे तो प्रेम तत्व के प्रतीक हैं। भाव से ऊपर उठकर महाभाव या प्रेम के आराध्य हैं :-

'प्रेम जगावै विरह को, विरह जगावै पीउ, पीउ जगावै जीव को, जोइ पीउ सोई जीउ' - जो पीउ है, वही जीव है। इसी कारण उनकी पूरी साधना ''हंस

उबारन आए की साधना है। इस हंस का उबारना पोथियों के पढ़ने से नहीं हो सकता, ढाई आखर प्रेम के आचरण से ही हो सकता है। धर्म ओढ़ने की चीज नहीं है, जीवन में आचरण करने की सतत सत्य साधना है। उनकी साधना प्रेम से आरम्भ होती है। इतना गहरा प्रेम करो कि वही तुम्हारे लिए परमात्मा हो जाए। उसको पाने की इतनी उत्कण्ठा हो जाए कि सबसे वैराग्य हो जाए, विरह भाव हो जाए तभी उस ध्यान समाधि में पीउ जाग्रत हो सकता है। वही पीउ तुम्हारे अन्तर्मन में बैठे जीव को जगा सकता है। जोई पीउ है सोई जीउ है। तब तुम पूरे संसार से प्रेम करोगे, तब संसार का प्रत्येक जीव तुम्हारे प्रेम का पात्र बन जाएगा। सारा अहंकार, सारा द्वेष दूर हो जाएगा। फिर महाभाव जगेगा। इसी महाभाव से पूरा संसार पिउ का घर हो जाता है।

सूरज चन्द्र का एक ही उजियारा, सब यहि पसरा ब्रह्म पसारा।
जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है, बाहर भीतर पानी
फूटा कुम्भ जल जलहीं समाना, यह तथ कथौ गियानी।" है।
कबीर के जीवन से संबंधित कुछ चमत्कारी घटनाएँ

नीमा और नीरु का बालक कबीर का मिलना

नीरु जुलाहा काशी नगरी में रहता था। एक दिन नीरु अपना गवना लेने के लिए, ससुराल गया। नीरु अपनी पत्नी नीमा को लेकर आ रहा था। रास्ते में नीमा को प्यास लगी। वे लोग पानी पीने के लिए लहर तालाब पर गए। पानी पीने के पश्चात्, नीमा जैसे ही उठी, उसने तालाब में कमल के पुष्पों पर एक अति सुंदर बालक को हाथ- पाँव मारते देखा। वह बहुत ही प्रसन्न हुई। वह तालाब के भीतर गई और बालक को अपनी गोद में लेकर बाहर आकर, नीरु के निकट गई और कहा–

"नीरु नाम जुलाहा, गमन लिये घर जाय।
तासु नारि बढ श्रागिनी, जल में बालक पाय।"

जुलाहे ने बालक को देखकर पूछा, यह किसका है और तुम कहाँ से उठाकर लाई हो? नीमा ने कहा कि इसे उसने तालाब में पाया है। नीरु ने कहा, इसे जहाँ से लायी है, वहीं रख आ। मगर नीमा ने कहा कि इतने सुंदर बच्चे को मैं अपने पास रखूँगी। नीरु ने अपनी स्त्री से कहा, मुझपर लोग हँसेंगे, कहेंगे कि गवना में मैं अपनी स्त्री के साथ, बालक ले आया। नीरु को तत्कालीन समाज के लोगों का डर लग रहा था। उसने कहा–

"नीरु देख रिसवाई, बालक देतू डार।
सब कुटम्ब हांसी करे, हांसी मारे परिवार।"

नीमा, नीरु की कोई बात मानने को तैयार नहीं हुई, तब नीरु उसको मारने-पीटने पर तत्पर हो गया और झिड़कियाँ देने लगा। नीमा अपनी जगह पर चुपचाप खड़ी सोच रही थी, इतने में बालक स्वयं ही बोल उठा,

"तब साहब हूँ कारिया, लेचल अपने धाम।
युक्ति संदेश सुनाई हौं, मैं आयो यही काम।
पूरब जनम तुम ब्राह्मन, सुरति बिसारी मौहि।
पिछली प्रीति के कारने, दरसन दीनो तोहि।'

हे नीमा! मैं तुम्हारे पूर्व जन्म के प्रेम के कारण तुम्हारे पास आया हूँ। तुम मुझको मत फेंको और अपने घर ले चलो। यदि तुम मुझको अपने घर ले गयी, तो मैं तुमको आवागमन (जन्म- मरण) के झंझट से छुड़ा करके, मुक्त कर दूँगा। तुम्हारे सारे दुख व संताप मैं हर लूँगा।

बालक के इस प्रकार बोलने से, नीमा निर्भय हो गयी और अपने पति से नहीं डरी। तब नीरु भी बालक को सुनकर कुछ नहीं बोला-

कर गहि बगि उठाइया, लीन्हों कंठ लगाया
नारि पुरुष दोउ हरषिया, रंक महा धन पाय।
वे दोनों प्रसन्नतापूर्वक बालक को लेकर अपने घर चले गए।

बालक का नामकरण करने ब्राह्मण का आना

काशी के लोगों को जब मालूम हुआ कि नीरु अपनी पत्नी के साथ एक बालक भी लाया है, तो लोग जमा होकर हंसने लगे। नीरु ने तब बालक के बारे में सारी बातें सुनाई।

नीरु बालक का नाम धरवाने के लिए, ब्राह्मण के पास गया। जब ब्राह्मण अपना पत्र लिए नाम के बारे में विचार ही रहा था कि बालक ने कहा, ऐ ब्राह्मण! मेरा नाम कबीर है। दूसरा नाम रखने की चिंता मत करो। यह बात सुनकर वहाँ इकट्ठा सभी लोग चकित हो गए। हर तरफ इस बात की चर्चा होने लगी कि नीरु के घर में एक बच्चा आया है, वह बातें करता है।

साखी -कासी उमगी गुल श्रया, मोमिनका का घर घेर।
कोई कहे ब्राह्मा विष्णु हे, कोई कह इंद्र कुबेर॥
कोई कहन वरुन धर्मराय हे, कोई कोइ कह इस,
सोलह कला सुमार गति, को कहे जगदीश॥

काजी का नाम धरने आना

ब्राह्मण के चले जाने पर, नीरु ने काजी को बुलाया और बालक का नाम रखने के लिए कहा। काजी, कुरान और दूसरी किताबें खोलकर बालक का नाम देखने लगा। कुरान में काजी को चार नाम मिले – कबीर, अकबर, किबरा और किबरिया। ये चारों नाम देखकर काजी अपने दांतों के तले उँगलियाँ दबाने लगा। वह हैरान होकर बार- बार कुरान खोलकर देखता था, लेकिन समस्त कुरान काजी को इन्हीं चार नामों से भरा दिखाई देता था। काजी के मन में अत्यंत संदेह उत्पन्न होने लगा कि ये चारों नाम तो खुदा के हैं। काजी गंभीर चिंता में डूब गया कि क्या करना चाहिए। हमारे धर्म की प्रतिष्ठा दाव पर लग गई है। इस बात को गरीबदास ने इस प्रकार कहा है–

काजी गये कुरान ले, धर लड़के का नाव।
अच्छर अच्छरों में फुरा, धन कबीर वहि जाँव
सकल कुरान कबीर है, हरफ लिखे जो लेख।
काशी के काजी कहै, गई दीन की टेक।

जब काशी के सभी काजियों को यह समाचार मिला, तो सभी बड़े चिंतित हुए। वे कहने लगे कि अत्यंत आश्चर्य का विषय है कि समस्त कुरान में कबीर ही कबीर है। सभी सोचते रहे, क्या उपाय किया जाए कि इस जुलाहे के पुत्र का इतना बड़ा नाम न रखा जा सके। पुनः सभी काजियों ने कुरान खोलकर देखा, तो अब भी वही चारों नाम दिखाई दे रहा था।

काजियों द्वारा नीरु को कबीर की हत्या कर देने की सलाह देना

काशी के काजी नाम के बारे में कोई दूसरा उपाय न ढूढ सकें, तो आपस में विचार करके नीरु से कहा कि तू इस बालक को अपने घर के भीतर ले जाकर मार डाल, नहीं तो तू काफिर हो जाएगा। जुलाहा काजियों की बात में आ गया और वह कबीर को मार डालने के लिए अपने घर के भीतर ले गया। नीरु जुलाहे ने कबीर के गले पर छुरी मारना शुरु कर दिया। वह छुरी गले में एक ओर से दूसरी ओर पार निकल गयी, न कोई जख्म हुआ और न ही खून का एक बूंद भी निकला। इतना ही नहीं गर्दन पर छुरी का चिह्न भी नहीं था। तब कबीर बोले कि, ऐ नीरु! मेरा कोई माता- पिता नहीं है, न मैं जन्मता हूँ, न मरता हूँ, न मुझको कोई मार सकता है, न मैं किसी को मार सकता हूँ और न ही मेरा शरीर है। तुमको दिखाई देने वाला शरीर तुम्हारी भावना मात्र शब्द रुपी है। यह बात सुनकर जुलाहा

और जुलाहिन अत्यंत भयभीत हुए। इसके साथ-साथ समस्त काशी में हुल्लड़ मच गया कि बालक वार्तालाप करता है।

अंत में विवश होकर, काजियों ने बालक का नाम कबीर ही रखा। कोई इसको बदल न सका।

बालक कबीर का दूध पीना

बालक कबीर नीरु के घर में कुछ खाते- पीते नहीं थे। इसके बावजूद उसके शरीर में किसी तरह की कोई कमी नहीं हो रही थी। नीरु और नीमा को इस बात पर चिंता हुई। वे दोनों सभी लोगों से पूछते- फिरते कि बालक क्यों नहीं खाता है, उसको खाना खिलाने का क्या उपाय हो सकता है?

दुध पिवे न अन्न भखे, नहि पलने झूलंत।
अधर अमान ध्यान में, कमल कला फूलंत॥

नीमा और नीरु की बात सुनकर प्रत्येक व्यक्तियों ने अपने- अपने विचार दिये और कई ने तो प्रयोग भी करके देखा, पर कोई लाभ नहीं।

अंत में किसी व्यक्ति ने नीरु को सलाह दी कि रामानंद जी से मिलना चाहिए। स्वामी रामानंद जी को स्थानीय लोग बड़े सिद्ध व त्रिकालदर्शी मानते थे। नीमा- नीरु स्वामी जी के आश्रम गये, किंतु इन लोगों को वहाँ प्रवेश नहीं मिला, क्योंकि स्वामी जी के आश्रम में हिंदूओं की भी बहुत- सी जातियों को प्रवेश नहीं मिलता था। कहा जाता है कि स्वामी जी शुद्रों को देखना भी नहीं चाहते थे। नीमा- नीरु तो मुसलमान थे। मिलने का कोई अवसर न देखकर इन दोनों ने अपनी बात दूसरे व्यक्ति के माध्यम से स्वामीजी के पास पहुँचायी। स्वामी जी ने ध्यान धर कर बतलाया कि एक कोरी (कुमारी) बछिया लाकर बालक की दृष्टि के सामने खड़ी कर दो। उस बछिया से जो दूध निकलेगा, वह दूध बालक को पिलाने से वह पियेगा। नीमा और नीरु ने ऐसा ही किया। उस दिन से बालक कबीर दूध पीने लगा।

कबीर का साहित्यिक परिचय

कबीर साहब निरक्षर थे। उन्होंने अपने निरक्षर होने के संबंध में स्वयं "कबीर- बीजक" की एक साखी में बताया है। जिसमें कहा गया है कि न तो मैं ने लेखनी हाथ में लिया, न कभी कागज और स्याही का ही स्पर्श किया। चारों युगों की बातें उन्होंने केवल अपने मुँह द्वारा जता दिया है–

मसि कागद छूयो नहीं, कलम गही नहिं हाथ।
चारिक जुग को महातम, मुखहिं जनाई बात॥

संत मत के समस्त कवियों में, कबीर सबसे अधिक प्रतिभाशाली एवं मौलिक माने जाते हैं। उन्होंने कविताएँ प्रतिज्ञा करके नहीं लिखी और न उन्हें पिंगल और अलंकारों का ज्ञान था। लेकिन उन्होंने कविताएँ इतनी प्रबलता एवं उत्कृष्टता से कही हैं कि वे सरलता से महाकवि कहलाने के अधिकारी हैं। उनकी कविताओं में संदेश देने की प्रवृत्ति प्रधान है। ये संदेश आने वाली पीढ़ियों के लिए प्रेरणा, पथ- प्रदर्शण तथा संवेदना की भावना सन्निहित है। अलंकारों से सुसज्जित न होते हुए भी आपके संदेश काव्यमय हैं। तात्विक विचारों को इन पद्यों के सहारे सरलतापूर्वक प्रकट कर देना ही आपका एक मात्र लक्ष्य था–

तुम्ह जिन जानों गीत हे यहु निज ब्रह्म विचार
केवल कहि समझाता, आतम साधन सार रे॥

कबीर भावना की अनुभूति से युक्त, उत्कृष्ट रहस्यवादी, जीवन का संवेदनशील संस्पर्श करनेवाले तथा मर्यादा के रक्षक कवि थे। आप अपनी काव्य कृतियों के द्वारा पथभ्रष्ट समाज को उचित मार्ग पर लाना चाहते थे–

हरि जी रहे विचारिया साखी कहो कबीर।
यौ सागर में जीव हैं जे कोई पकड़ै तीर॥

कवि के रूप में कबीर जीव के अत्यंत निकट हैं। उन्होंने अपनी रचनाओं में सहजता को प्रमुख स्थान दिया है। सहजता उनकी रचनाओं की सबसे बड़ी शोभा और कला की सबसे बड़ी विशेषता मानी जाती है। उनके काव्य का आधार यथार्थ है। उन्होंने स्वयं स्पष्ट रूप से कहा है कि मैं आँख का देखा हुआ कहता हूँ और तू कागज की लेखी कहता है–

मैं कहता हूँ आखिन देखी,
तू कहता कागद की लेखी।

वे जन्म से विद्रोही, प्रकृति से समाज- सुधारक एवं प्रगतिशील दार्शनिक तथा आवश्यकतानुसार कवि थे। उन्होंने अपनी काव्य रचनाएँ इस प्रकार कही हैं कि उसमें आपके व्यक्तित्व का पूरा- पूरा प्रतिबिंब विद्यमान है।

कबीर की प्रतिपाद्य शैली को मुख्य रूप से दो भागों में बाँटा गया है –इनमें प्रथम रचनात्मक, द्वितीय आलोचनात्मक। रचनात्मक विषयों के अंतर्गत सतगुरु, नाम, विश्वास, धैर्य, दया, विचार, औदार्य, क्षमा, संतोष आदि पर व्यावहारिक शैली में भाव व्यक्त किया गया है। दूसरे पक्ष में वे आलोचक, सुधारक, पथ-

प्रदर्शक और समन्वयकर्ता के रूप में दृष्टिगत होते हैं। इस पक्ष में उन्होंने चेतावनी, भेष, कुसंग, माया, मन, कपट, कनक, कामिनी आदि विषयों पर विचार प्रकट किये हैं।

काव्य रुप एवं संक्षिप्त परिचय–

कबीर की रचनाओं के बारें में कहा जाता है कि संसार के वृक्षों में जितने पत्ते हैं तथा गंगा में जितने बालू- कण हैं, उतनी ही संख्या उनकी रचनाओं की है–

जेते पत्र वनस्पति औ गंगा की रेन।
पंडित विचारा का कहै, कबीर कही मुख वैन॥

विभिन्न समीक्षकों तथा विचारकों ने कबीर के विभिन्न संग्रहों का अध्ययन करके निम्नलिखित काव्य रुप पाये हैं–

- साखी
- पद
- रमेनी
- चौंतीसा
- वावनी
- विप्रमतीसी
- वार
- थिंती
- चाँवर
- बसंत
- हिंडोला
- बेलि
- कहरा
- विरहुली
- उलटबाँसी

साखी

साखी रचना की परंपरा का प्रारंभ गुरु गोरखनाथ तथा नामदेव जी के समय से प्राप्त होता है। साखी काव्यरूप के अंतर्गत प्राप्त होने वाली, सबसे प्रथम रचना गोरखनाथ की जोगेश्वरी साखी है। कबीर की अभिव्यंजना शैली बड़ी शक्तिशाली

है। प्रतिपाद्य के एक- एक अंग को लेकर इस निरक्षर कवि ने सैकड़ों साखियों की रचना की है। प्रत्येक साखी में अभिनवता बड़ी कुशलता से प्रकट किया गया है। उन्होंने इसका प्रयोग नीति, व्यवहार, एकता, समता, ज्ञान और वैराग्य आदि की बातों को बताने के लिए किया है। अपनी साखियों में कबीर ने दोहा छंद का प्रयोग सर्वाधिक किया है।

कबीर की साखियों पर गोरखनाथ और नामदेव जी की साखी का प्रभाव दिखाई देता है। गोरखनाथ की तरह से कबीर ने भी अपनी सखियों में दोहा जैसे छोटे छंदों में अपने उपदेश दिये।

संत कबीर की रचनाओं में साखियाँ सर्वाधिक पायी जाती है। कबीर बीजक में 353 साखियाँ, कबीर ग्रंथ वाली में 919 साखियाँ हैं। आदिग्रंथ में साखियों की संख्या 243 है, जिन्हें श्लोक कहा गया है।

प्राचीन धर्म प्रवर्त्तकों के द्वारा, साखी शब्द का प्रयोग किया गया। ये लोग जब अपने गुरुजनों की बात को अपने शिष्यों अथवा साधारणजनों को कहते, तो उसकी पवित्रता को बताने के लिए साखी शब्द का प्रयोग किया करते थे। वे साखी देकर, यह सिद्ध करना चाहते थे कि इस प्रकार की दशा का अनुभव अमुक-अमुक पूर्ववर्ती गुरुजन भी कर चुके हैं। अतः प्राचीन धर्म प्रवर्तकों द्वारा प्रतिपादित ज्ञान को शिष्यों के समक्ष, साक्षी रूप में उपस्थित करते समय जिस काव्यरूप का जन्म हुआ, वह साखी कहलाया।

संत कबीर की साखियाँ, निर्गुण साक्षी के साक्षात्कार से उत्पन्न भावोन्मत्तता, उन्माद, ज्ञान और आनंद की लहरों से सराबोर है। उनकी साखियाँ ब्रह्म विद्या बोधिनी, उपनिषदों का जनसंस्करण और लोकानुभव की पिटारी हैं। इनमें संसार की असारता, माया मोह की मृग-तृष्णा, कामक्रोध की क्रूरता को भली-भांति दिखाया गया है। ये सांसारिक क्लेश, दुख और आपदाओं से मुक्त कराने वाली जानकारियों का भण्डार हैं। संत कबीर के सिद्धांतों की जानकारी का सबसे उत्तम साधन उनकी साखियाँ हैं।

साखी आंखी ग्यान को समुझि देखु मन माँहि
बिन साखी संसार का झगरा छुटत नाँहि॥

विषय की दृष्टि से कबीर साहब की सांखियों को मुख्यतः दो भागों में विभाजित किया गया है–

1. लौकिक भाव प्रधान,
2. परलौकिक भाव प्रधान।

लौकिक भाव प्रधान साखियाँ भी तीन प्रकार की हैं–

1. संतमत स्वरूप बताने वाली,
2. पाखण्डों का विरोध करने वाली,
3. व्यवहार प्रधान।

संतमत का स्वरूप बताने वाली साखियाँ–

कबीर साहब ने अपनी कुछ साखियों में संत और संतमत के संबंध में अपने विचार प्रकट किए हैं–

निर बेरी निहकामता साई सेती नेह।
विषिया सूँन्यारा रहे संतरि को अंग एह॥

कबीर साहब की दृष्टि में संत का लक्ष्य धन संग्रह नहीं है–

सौंपापन कौ मूल है एक रुपैया रोक।
साधू है संग्रह करै, हारै हरि सा थोक॥
संत व बांधै गाँठरी पेट समाता लेई।
आगे पीछे हरि खड़े जब माँगै तब दई॥

संत अगर निर्धन भी हो, तो उसे मन छोटा करने की आवश्यकता नहीं है–

सठगंठी कोपीन है साधू न मानें संक।
राम अमल माता रहे गिठों इंद्र को रंक॥

कबीर साहब परंपरागत रूढ़ियों, अंधविश्वासों, मिथ्या प्रदर्शनों एवं अनुपयोगी रीति-रिवाजों के कट्टर विरोधी थे। उन्होंने हिंदू-मुसलमान दोनों में ही फैली हुई कुरीतियों का विरोध अपनी अनेक साखियों में किया है।

व्यवहार प्रधान साखियाँ

कबीर साहब की व्यवहार प्रधान साखियाँ, नीति और उपदेश प्रधान हैं। इसमें संसभू के प्रत्येक क्षेत्र में उचित व्यवहार की रीति बताई गई हैं। इन साखियों में मानव मात्र के कल्याणकारी अनुभव का अमृत छिपा हुआ है। पर निंदा, असत्य, वासना, धन, लोभ, क्रोध, मोह, मदमत्सर, कपट आदि का निषेध करके, वे सहिष्णुता, दया, अहिंसा, दान, धैर्य, संतोष, क्षमा, समदर्शिता, परोपकार तथा मीठे वाचन आदि के लिए आग्रह किया गया है। वे त्याज्य कुकर्मों को गिना कर बताते है–

गुआ, चोरी, मुखबरी, व्याज, घूस, परमान।
जो चाहे दीदार को एती वस्तु निवार॥

विपत्ति में धैर्य धारण करने के लिए कहते हैं–

देह धरे का दंड है सब काहू पै होय।
ज्ञानी भुगतै ज्ञानकरि मूरख भुगतै रोय॥

वह अपनी में बाबू संयम पर बल देते हुए कहते हैं–

ऐसी बानि बोलिए मन का आपा खोय।
ओख को सीतल करै, आपहु सीतल होय।

पारलौकिक भाव प्रधान साखियाँ

संत कबीर साहब इस प्रकार की अपनी साखियों में नैतिक, आध्यात्मिक, सांसारिक, परलौकिक इत्यादि विषयों का वर्णन किया है। कुछ साखियाँ–

राम नाम जिन चीन्हिया, झीना पं तासु।
नैन न आवै नींदरी, अंग न जायें मासु॥
बिन देखे वह देसकी, बात कहे सो कूर।
आपुहि खारी खात है, बैचत फिरे कपूर॥

पद (शब्द)

संत कबीर ने अपने अनुभवों, नीतियों एवं उपदेशों का वर्णन, प• दों में भी किया है। पद या शब्द भी एक काव्य रूप है, जिसको प्रमुख दो भागों में बाँटा गया है–

- लौकिक भाव प्रधान,
- परलौकिक भाव प्रधान,

लौकिक भाव प्रधान पदों में सांसारिक भावों एवं विचारों का वर्णन किया गया है। इनको भी दो भागों में विभाजित किया गया है–

- धार्मिक पाखण्डों का खंडन करने वाले पद।
- उपदेशात्मक और नीतिपरक पद।

संत कबीर जातिवाद, ऊँच- नीच की भावना एवं दिखावटी धार्मिक क्रिया- कलापों के घोर विरोधी थे। उन्होंने विभिन्न धर्मों की प्रचलित मान्यताओं तथा उपासना पद्धतियों की अलग- अलग आलोचना की है। वे वेद और कुरान के वास्तविक ज्ञान और रहस्य को जानने पर बल देते हैं–

वेद कितेब कहौ झूठा।
झूठा जो न विचारै॥
झंखत बकत रहहु निसु बासर, मति एकौ नहिं जानी।

सकति अनुमान सुनति किरतु हो, मैं न बदौगा भाई।।
जो खुदाई तेरि सुनति सुनति करतु है, आपुहि कटि क्यों न आई।
सुनति कराय तुरुक जो होना, औरति को का कहिये।।

रमैनी

रमैनी भी संत कबीर द्वारा गाया गया काव्यरूप है। इसमें चौपाई दो छंदों का प्रयोग किया गया है। रमैनी कबीर साहब की सैद्धांतिक रचनाएँ हैं। इसमें परमतत्व, रामभक्ति, जगत और ब्रह्म इत्यादि के बारे में विस्तारपूर्वक विचार किया गया है।

जस तू तस तोहि कोई न जान। लोक कहै सब आनाहि आना।
वो है तैसा वोही जाने। ओही आहि आहि नहिं आने।।

संत कबीर राम को सभी अवतारों से परे मानते हैं–

ना दसरथ धरि औतरि आवा।
ना लंका का राव सतावा।।
अंतर जोति सबद एक नारी। हरि ब्रह्मा ताके त्रिपुरारी।।
ते तिरिये भग लिंग अनंता। तेउ न जाने आदि औ अंतर।।

एक रमैनी में वे मुसलमानों से प्रश्न पूछते हैं।

दर की बात कहाँ दरबेसा। बादशाह है कवने भेष।
कहां कंच कहँ करै मुकाया। मैं तोहि पूंछा मुसलमाना।।
लाल गरेद की नाना बना। कवर सुरहि को करहु सलाया।।
काजी काज करहु तुम कैसा। घर- घर जबह करवाहु भैसा।।

चौंतीसा

चौंतीसा नामक काव्यरूप केवल "कबीर बीजक" में ही प्रयोग किया गया है। इसमें देवनागरी वर्णमाला के स्वरों को छोड़कर, केवल व्यंजनों के आधार पर रचनाएँ की गई हैं–

पापा पाप करै सम कोई। पाप के करे धरम नहिं होई।
पापा करै सुनहु रे भाई। हमरे से इन किछवो न पाई।
जो तन त्रिभुवन माहिं छिपावै। तत्तहि मिले तत्त सो पावै।
थाथा थाह थाहि नहिं जाई। इथिर ऊथिर नाहिं रहाई।

बावनी

बावनी वह काव्यरूप है, जिसकी द्विपदियों का प्रारंभ नागरी लिपि के बावन वर्णों में से प्रत्येक के साथ क्रमशः होता है। बावनी को इसके संगीतनुसार गाया जाने का रिवाज पाया जाता है। विषय की दृष्टि से यह रचनाएँ अध्यात्मिकता से परिपूर्ण ज्ञात होता है।

ब्राह्मण होके ब्रह्म न जानै। घर महँ जग्य प्रतिग्रह आनै
जे सिरजा तेहि नहिं पहचानैं। करम भरम ले बैठि बखानै।
ग्रहन अमावस अवर दुईजा।
सांती पांति प्रयोजन पुजा।।

विप्रमतीसी

विप्रमतीसी नामक काव्य रूप भी केवल "कबीर बीजक' में पाया जाता है। इसमें ब्राह्मणों के दपं तथा मिथ्याभिमान की आलोचना की गई है। इसका संबंध विप्रमति (ब्राह्मणों की बुद्धि) से बताया जाता है।

ब्राह्मणों की मति की आलोचना करने के लिए, तीस पंक्तियों में गठित काव्यरूप को विप्रमतीसी कहा गया है।

वार

सप्ताह के सातों वारों (दिनों) के नामों को क्रमशः लेकर, की गई उपदेशात्मक रचनाओं वालों काव्यरूप को "वार" कहा गया है। यह काव्य रूप की रचना केवल आदिग्रंथ में ही प्राप्त होती है।

थिंती

इस काव्य रूप का प्रयोग तिथियों के अनुसार छंद रचना करके साधना की बातें बताने के लिए किया गया है। संत कबीर का यह काव्य रूप भी केवल आदिग्रंथ में पाया जा सकता है।

चाँचर

चाँचर बहुत प्राचीन काल से प्रचलित काव्यरूप है। कालीदास तथा बाणभ की रचनाओं में चर्चरी गान का उल्लेख मिलता है। प्राचीन काल में इसको चर्चरी या चाँचरी कहा जाता था। संत कबीर ने भी अपनी रचनाओं में इसको अपनाया

है। "कबीर बीजक' में यह काव्य रूप प्राप्त होता है। कहा जाता है कि कबीर के समय में इसका पूर्ण प्रचलन था। कबीर ने इसका प्रयोग आध्यात्मिक उपदेशों को साधारण जन को पहुँचनें के लिए किया है।

जारहु जगका नेहरा, मन का बौहरा हो।
जामें सोग संतान, समुझु मन बोरा हो।
तन धन सों का गर्वसी, मन बोरा हो।
भसम- किरिमि जाकि, समुझु मन बौरा हो।
बिना मेवका देव धरा, मन बौरा हो।
बिनु करगिल की इंट, समुझु मन बौरा हो।

बसंत

संत कबीर साहब का एक अन्य काव्यरूप बसंत है। "बीजक', "आदिग्रंथ' और "कबीर ग्रंथावली' तीनों में इसको देखा जा सकता है। बसंत ऋतु में, अभितोल्लास के साथ गाई जाने वाली पद्यों को फागु, धमार, होली या बसंत कहा जाता है। लोकप्रचलित काव्यरूप को ग्रहण कर, अपने उद्देश्य को जनसाधारण तक पहुँचाने के लिए किया है। एक पत्नी अपने पति की प्रशंसा करते हुए कहती है–

भाई मोर मनुसा अती सुजान, धद्य कुटि- कुटि करत बिदान।
बड़े भोर उठि आंगन बाढु, बड़े खांच ले गोबर काढ़
बासि-भात मनुसे लीहल खाय, बड़ धोला ले पानी को गाय
अपने तृंया बाधों पाट, ले बेचौंगी हाटे हाट
कहँहि कबिर ये हरिक काज, जोइया के डिंग रहिकवनि लाज

हिंडोला

सावन के महिने में महिलाएँ हिंडोला झूलने के साथ-साथ, गीत भी गाती है। इसी गीत को अनेक स्थानों पर हिंडोला के नाम से जाना जाता है। संत कबीर ने इसी जनप्रचलित काव्यरूप को अपने ज्ञानोपदेश का साधन बनाया है। वह पूरे संसार को एक हिंडोला मानते हैं। वे इस प्रकार वर्णन करते हैं–

भ्रम का हिंडोला बना हुआ है। पाप पुण्य के खंभे हैं। माया ही मेरु हैं, लोभ का मरुषा है विषय का भंवरा, शुभ- अशुभ की रस्सी तथा कर्म की पटरी लगी हुई है। इस प्रकार कबीर साहब समस्त सृष्टि को इस हिंडोले पर झुलते हुए दिखाना चाहते हैं–

भरम- हिंडोला ना, झुलै सग जग आय।
पाप- पुण्य के खंभा दोऊ मेरु माया मोह।
लोभ मरुवा विष भँवरा, काम कीला ठानि।
सुभ- असुभ बनाय डांडी, गहैं दोनों पानि।
काम पटरिया बैठिके, को कोन झुलै आनि।
झुले तो गन गंधर्व मुनिवर, झुलै सुरपति इंद
झुलै तो नारद सारदा, झुलै व्यास फनींद।

बेलि

संत कबीर की बेलि उपदेश प्रधान काव्यरूप है। इसके अंतर्गत सांसारिक मोह ममता में फँसे जीव को उपदेश दिया गया है। "कबीर बीजक' में दो रचनाएँ बेलि नाम से जानी जाती हैं। इसकी पंक्ति के अंत में "हो रमैया राम' टेक को बार- बार दुहराया गया है।

कबीर साहब की एक बेलि

हंसा सरवर सरीर में, हो रमैया राम।
जगत चोर घर मूसे, हो रमैया राम।
जो जागल सो भागल हो, रमैया राम।
सावेत गेल बिगोय, हो रमैया राम।

कहरा

कहरा काव्यरूप में क्षणिक संसार के मोह को त्याग का राम का भजन करने पर बल दिया जाता है। इसके अंतर्गत यह बताया जाता है कि राम के अतिरिक्त अन्य देवी- देवताओं की पूजा करना व्यर्थ है। यह कबीर की रचनाओं का जन-प्रचलित रूप है–

रामनाम को संबहु बीरा, दूरि नाहिं दूरि आसा हो।
और देवका पूजहु बौरे, ई सम झूठी आसा हो।
उपर उ कहा भौ बौरे, भीटर अजदूँ कारो हो।
तनके बिरघ कहा भौ वौरे, मनुपा अजहूँ बारो हो।

बिरहुली

बिरहुली का अर्थ सर्पिणी है। यह शब्द बिरहुला से बना है, जिसका अर्थ सांप होता है। यह शब्द लोक में सांप के विष को दूर करने वाले गायन के लिए प्रयुक्त होता था। यह गरुड़ मंत्र का प्राकृत नाम है। गाँव में इस प्रकार के गीतों को बिरहुली कहा जाता है। कबीर साहब की बिरहुली में विषहर और विरहुली दोनों शब्दों का प्रयोग किया गया है। मनरूपी सांप के डस लेने पर कबीर ने बिरहुली कहा–

आदि अंत नहिं होत बिरहुली। नहिं जरि पलौ पेड़ बिरहुली।
निसु बासर नहिं होत बिरहुली। पावन पानि नहिं भूल बिरहुली।
ब्रह्मादिक सनकादि बिरहुली। कथिगेल जोग आपार बिरहुली।
बिषहा मंत्र ने मानै बिरहुली। गरुड़ बोले आपार बिरहुली।

उलटबाँसी

बंधी बधाई विशिष्ट अभिव्यंजना शैली के रूप में, उलटबाँसी भी एक काव्यरूप है। इसमें आटयात्मिक बातों का लोक विपरीत ढंग से वर्णन किया जाता है। इसमें वक्तव्य विषय की प्रस्तुत करने का एक विशष ढंग होता है–

तन खोजै तब पावै रे।
उलटी चाल चले गे प्राणी, सो सरजै घर आवेरो
धर्म विरोध संबंधी उलटबाँसिया–
अम्बर बरसै धरती भीजे, यहु जानैं सब कोई।
धरती बरसे अम्बर भीजे, बूझे बिरला कोई।
मैं सामने पीव गोहनि आई।
पंच जना मिलिमंडप छायौ, तीन जनां मिलि लगन लिखाई।

सामान्यरूप में कबीर साहब ने जन- प्रचलित काव्यरूप को अपनाया है। जन- प्रचलित होने के कारण ही सिंहों, माथों, संतों और भक्तों के द्वारा इनको ग्रहण किया गया।

विचारों और भखों के साथ ही, काव्यरूपों के क्षेत्र में भी कबीर साहब को आदर्श गुरु तथा मार्गदर्शक माना गया है। परवर्ती संतों तथा भक्तों ने उनके विचारों और भावों के साथ- साथ काव्यरूपों को भी अपनाया। कबीर साहब ने इन काव्यरूपों को अपना करके महान और अमर बना दिया।

कबीर के काव्य में दाम्पत्य एवं वात्सल्य के द्योतक प्रतीक पाये जाते हैं। उनकी रचनाओं में सांकेतिक, प्रतीक, पारिभाषिक प्रतीक, संख्यामूलक प्रतीक, रूपात्मक प्रतीक तथा प्रतीकात्मक उलटबाँसियों के सुंदर उदाहरण पाए जाते हैं।

कबीर की प्रेम साधना

मध्यकालीन कवियों ने प्रेम को सबसे बड़ा पुरूषार्थ माना था। समाज में व्याप्त क्यारियों को ध्वस्त करने के लिए इन कवियों ने प्रेम की शरण ली थी। कबीर साहब ने इस समस्त काल में प्रेम को प्रतिष्ठा प्रदान किया एवं शास्त्र-ज्ञान को तिरस्कार किया।

मासि कागद छूओं नहिं,
कलम गहयों नहिं हाथ।

कबीर साहब पहले भारतीय व हिंदी कवि हैं, जो प्रेम की महिमा का बखान इस प्रकार करते हैं–

पोथी पढ़ी- पढ़ी जग मुआ, पंडित भया न कोई।
ढाई आखर प्रेम का पढ़े सो पंडित होय॥

कबीर के अनुसार ब्राह्मण और चंडाल की मंद- बुद्धि रखने वाला व्यक्ति परमात्मा की अनुभूति नहीं कर सकता है, जो व्यक्ति इंसान से प्रेम नहीं कर सकता, वह भगवान से प्रेम करने का सामर्थ्य नहीं हो सकता। जो व्यक्ति मनुष्य और मनुष्य में भेद करता है, वह मानव की महिमा को तिरस्कार करता है। वे कहते हैं मानव की महिमा अहम् बढ़ाने में नहीं है, वरन् विनीत बनने में है–

प्रेम न खेती उपजै, प्रेम न हाट बिकाय।
राजा प्रजा जेहि रुचे, सीस देहि ले जाय।

कबीर साहब ने प्रेम की जो परंपरा चलाई, वह बाद के सभी भारतीय कहीं- न- कहीं प्रभावित करता रहा है। इसी पथ पर चलकर रवीन्द्रनाथ टैगोर एक महान व्यक्तित्व के मालिक हुए।

कबीर भक्ति की साधना

कबीर के विचार से यह जीवन, संसार तथा उसके संपूर्ण सुख क्षणिक है। इनके पीछे भागना व्यर्थ में समय को गुजारना है। कबीर के अनुसार यह संसार दुखों का मूल है। सुख का वास्तविक मूल केवल आनंदस्वरूप राम है। इसकी कृपा के बिना, जन्म- मरण तथा तज्जन्य सांसारिक दुखों से मुक्ति नहीं मिल

सकती। यही कारण है कि कबीर साहब राम की भक्ति पर अत्यधिक बल देते हैं और कहते हैं कि सब कुछ त्याग कर राम का भजन करना चाहिए।

सरबु तिआगि भजु केवल राम कबीर कहते हैं कि राम या परमात्मा की भक्ति से ही माया का प्रभाव नष्ट हो सकता है तथा बिना हरि की भक्ति के कभी दुखों से मुक्ति नहीं हो सकती है।

बिनु हरि भगति न मुक्ति हाइ, इउ कहि रमें कबीर

परंतु कबीर की दृष्टि से भक्ति पूर्णतः निष्काम होनी चाहिए, वे हरि से धन, संतान कोई अन्य सांसारिक सुख माँगने के विरुद्ध हैं, वे तो भक्ति के द्वारा स्वर्ग भी नहीं माँगना चाहते हैं।

कबीर के राम से मुराद राजा दशरथ के पुत्र राजा राम नहीं हैं, बल्कि घट-घट में निवास करने वाले निर्गुण, निरंजन, निराकार, सत्यस्वरूप एवं आनंदस्वरूप राम हैं। उन्हें परमात्मा, हरि, गोविंद, मुरारी, अल्लाह, खुदा किसी भी नाम से पुकारा जा सकता है। उन्हें ढूढ़ने के लिए वन में भटकने की आवश्यकता नहीं है, भक्ति और युक्ति से उनका हृदय में साक्षात्कार किया जा सकता है। कबीर के मतानुसार आनंदस्वरूप राम और मनुष्य का आत्मा कोई दो भिन्न तत्व नहीं हैं–

जल में कुंभ कुंभ में जल है बाहरि भीतरि पानी।
फुटा कुंभ जल जलाहि समाना यहुतत कौं गियानी।

कबीर कहते हैं –साधक अपना अहंभाव खोकर सागर में बूँद की तरह परमात्मा से मिल सकता है–

हंरत हंरत हे सखी, गया कबीर हिराई।
बूँद समानी समद में, सोकत हरि जाइ॥

कबीर के अनुसार मनुष्य को स्वयं यह विचार करना चाहिए कि दुख का वास्तविक कारण क्या है? सुख का मूल क्या है और उसको पाने का उपाय क्या है?

ज्ञानदाता गुरु को कबीरदास अत्यंत पूज्य मानते हैं, वो तो गुरु और गोविंद में कोई अंतर नहीं मानते हैं–

गुर गोविंद तौ एक है, दूजा यहू आकार।
आपा भेट जीवत मरै, तौ पावै करतार॥

कबीर की भक्ति साधना में वेद शास्त्र के ज्ञान यज्ञ, तीर्थ, व्रत, मूर्ति पूजा आदि की कोई आवश्यकता नहीं है।

कबीर–एक सांप्रदायिक विश्लेषण

पंद्रहवीं शताब्दी में संतकाल के प्रारंभ में सारा भारतीय वातावरण क्षुब्ध था। बहुत से पंडित जन इस क्षोभ का कारण खोजो में व्यस्त थे और अपने- अपने ढंग पर समाज और धर्म को संभालने का प्रयत्न कर रहे थे। इस अराजकता का कारण इस्लाम जैसे एक सुसंगठित संप्रदाय का आगमन था। इसके बाद देश के उथल- पुथल वातावरण में महात्मा कबीर ने काफी संघर्ष किया और अपने कड़े विरोधों तथा उपदेशों से समाज को बदलने का पूरा प्रयास किया। सांप्रदयिक भेद- भाव को समाप्त करने और जनता के बीच खुशहाली लाने के लिए निमित्त संत- कबीर अपने समय के एक मजबूत स्तंभ साबित हुए। वे मूलत: आध्यात्मिक थे। इस कारण संसार और सांसारिकता के संबंध में उन्होंने अपने काल में जो कुछ कहा, उसमें भी आध्यात्मिक स्वर विशेष रूप से मुखर है।

इनके काजी मुल्ला पीर पैगम्बर रोजा पछिम निवाज।
इनके पूरब दिसा देव दिज पूजा ग्यारिसि गंगदिवाजा।
कहे कबीर दास फकीरा अपनी राह चलि भाई।
हिंदू तुरुक का करता एकै ता गति लखी न जाई।

कबीर- व्यवहार में भेद- भाव और भिन्नता रहने के कारण सांप्रदायिक कटुता बराबर बनी रही। कबीर दास इसी कटुता को मिटाकर, भाई चारे की भावना का प्रसार करना चाहते थे। उन्होंने जोरदार शब्दों में यह घोषणा की कि राम और रहीम में जरा भी अंतर नहीं है–

कबीर ने अल्लाह और राम दोनों को एक मानकर उनकी वंदना की है, जिससे यह सिद्ध होता है कि उन्होंने अध्यात्म के इस चरम शिखर की अनुभूति कर ली थी, जहाँ सभी भिन्नता, विरोध- अवरोध तथा समग्र द्वैत- अद्वैत में प्रतिष्ठित हो जाते हैं। प्रमुख बात यह है कि वे हिंदू- मुसलमान के जातीय और धार्मिक मतों के वैमनष्य को मिटाकर उन्हें उस मानवीय अद्वैत धरातल पर प्रतिष्ठित करने में मानवता और आध्यात्म के एक महान नेता के समान प्रयत्नशील हैं। उनका विश्वास था कि "सत्य के प्रचार से ही वैमनष्य की भावना मिटाई जा सकती है। इस समस्या के समाधान हेतु, कबीर ने जो रास्ता अपनाया था, वह वास्तव में लोक मंगलकारी और समयानुकूल था। अल्लाह और राम की इसी अद्वैत अभेद और अभिन्न भूमिका की अनुमति के माध्यम से उन्होंने हिदूं- मुसलमान दोनों को गलत कार्य पर चलने के लिए वर्जित किया और लगातार फटकार लगाई।

ना जाने तेरा साहब कैसा है,
मस्जिद भीतर मुल्ला पुकारे, क्या साहब तेरा बहिरा है,
पंडित होय के आसन मारे लंबी माला जपता है।
अंतर तेरे कपट कतरनी, सो भी साहब लखता है।

हिंदू- मुसलमान दोनों का विश्वास भगवान में है। कबीर ने इसी विश्वास के बल पर दोनों जातियों को एक करने का प्रयत्न किया। भाईचारे की भावना उत्पन्न करने की चेष्टा की।

सबद सरुपी जिव- पिव बुझों,
छोड़ो भय की ढेक।
कहे कबीर और नहिं दूज।
जुग- जुग हम तुम एक।

कबीर शब्द- साधना पर जोर दे रहे हैं। इनका कथन है, तुम श्रम तज कर शब्द साधना करो और अमृत रस का पान करो, हम तुम कोई भेद नहीं हैं, हम दोनों इसी एक पिता की संतान हैं। इसी अर्थ में कबीर दास हिंदू और मुसलमान के स्वयं विधायक हैं।

बड़े कठोर तप, त्याग, बलिदान और संकल्प शक्ति को अपना कवच बनाकर भारत की जनता ने अपनी खोई हुई स्वतंत्रता को प्राप्त कर ली, लेकिन इसके साथ ही सांप्रदायिकता की लहर ने इस आनंद बेला में विष घोल दिया। भारत का विभाजन हुआ। इस विभाजन के बाद असंख्य जानें गई, लाखों घर तबाह हुए और बूढ़े, बच्चे, जवान, हिंदू, मुस्लिम सब समाज विरोधी तत्वों के शिकार हुए। इन तमाम स्थितियों से निबटने के लिए मानवतावादी सुधार की आवश्यकता थी, यह काम अध्यात्म से ही संभव था। कबीर ने अपने समय और अब हमलोग भी एक दिन चले जाएँगे। उनके कहने का तात्पर्य यह है कि जीवन अल्प है। इस अवधि का सदुपयोग इस स्मरण में करना चाहिए। सांसारिक हर्ष- विषाद को विशेष महत्त्व नहीं देना चाहिए।

पंडितों का ढोंगपूर्ण रवैया देखकर उन्हें चेतावनी देते हुए कहते हैं–

पंडित होय के आसन मारे, लंबी माला जपता है,
अंतर तेरे कपट कतरनी, सो सो भी साहब लगता है,
ऊँचा निचा महल बनाया, गहरी नेव जमाता है,
कहत कबीर सुनो भाई साधो हरि जैसे को तैसा है।

कबीर शोषणकर्ता को रोषपूर्ण आगाह करते है कि भगवान के दरबार में न्याय होने पर उन्हें अपने किए का फल अवश्य भुगतना पड़ेगा। दूसरी ओर निरीह जनता को वे समझाते हुए कहते हैं–

कबीर नौवति आपणी, दिन दस लेहु बजाई,
ऐ पुर पारन, एक गली, बहुरि न देखें आई।

महात्मा कबीर कहते हैं कि यह जीवन कुछ ही दिनों के लिए मिला है, अतः इसका उपयोग सार्थक ढंग से खुब आनंदपूर्वक करना चाहिए।

जो करेंगे सो भरेंगे, तू क्यों भयो उदास,
कछु लेना न देना, मगन रहना,
कहे कबीर सुनो भाई साधो,
गुरु चरण में लपटे रहना।

महात्मा कबीर साहब संतप्त जनता को समझाते हुए कहते हैं कि कर्तव्य निर्विकार रूप से करो, व्यर्थ के प्रपंच में मत पड़ो, सर्वदा अपने मन को गुरु में लगाए रहो।

जीवित ही कछु कीजै,
हरि राम रसाइन पीजै।

महात्मा कबीर दास ने पीड़ित जनता के दुख- दर्द को दूर करने के लिए "राम रसायन" का आविष्कार किया। कबीर साहब ने पहली बार जनता को उसकी विपलता में ही खुश रहने का संदेश दिया।

कबीर मध्यकाल के क्रांतिपुरुष थे। उन्होंने देश की अंदर और बाहर की परिस्थितियों पर एक ही साथ धावा बोलकर, समाज और भावलोक को जो प्रेरणा दी, उसे न तो इतिहास भुला सकता है और न ही साहित्य इतनी बलिष्ठ रुढियों पर जिस साहस और शक्ति से प्रहार किया, यह देखते ही बनता है।

संतों पांडे निपुण कसाई,
बकरा मारि भैंसा पर धावै, दिल में दर्द न आई,
आतमराम पलक में दिन से, रुधिर की नदी बहाई।

कबीर ने समाज की दुर्बलता और अद्योगति को बड़ी करुणा से देखकर, उसे ऊपर उठाने के मौलिक प्रयत्न किया। उन्होंने भय, भर्त्सना और भक्ति जैसे अस्त्रों का उपयोग राजनैतिक विभिषिकाओं और सामाजिक विषमताओं जैसे शत्रु को परास्त करने के लिए किया। कबीर साहब यह बात समझ चुके थे कि इन शत्रुओं के विनाश होने पर ही जनता का त्रण मिल सकता है। अतः उनका सारा

विरोध असत्य, हिंसा और दुराग्रह से था। उनका उद्देश्य जीवन के प्रति आशा पैदा करना था।

कबीर का तू चित वे, तेरा च्यता होई,
अण च्यता हरि जो करै, जो तोहि च्यंत नहो।

महात्मा कबीर शोकग्रस्त जनता को सांत्वना देते हैं "तुम चिंता क्यों करते हो? सारी चिंता छोड़कर प्रभु स्मरण करो।"

केवल सत्य विचारा, जिनका सदा अहार,
करे कबीर सुनो भई साधो, तरे सहित परिवार।

कब उनके अनुसार जो सत्यवादी होता है, उसका तो भला होता ही है, साथ- साथ उसके सारे परिवार का भी भला होता है और वे लोग सुख पाते हैं। वह कहते हैं, सारे अनर्थों की जड़, असत्य और अन्याय है, इनका निर्मूल होने पर ही शुभ की कल्पना की जा सकती है। इसी अध्यात्म का सहारा लेकर हिंदू- मुस्लिम के भेद- भाव को मिटाने का प्रयत्न किया था, इसके साथ- साथ ही उन्होंने अपने नीतिपरक पदों के द्वारा जनता का मनोबल बढ़ाने का प्रयत्न किया था। आज के परिवेश में भी इन्हीं उपायों की आवश्यकता है।

सांप्रदायिक मतभेदों या दंगों का कारण अज्ञान या नासमझी है। इस नासमझी या अज्ञान को दूर करने के लिए कबीर दास द्वारा बताए गए उपायों का प्रयोग किया जाना आवश्यक है। कबीर की वाणी ही समस्त समस्याओं का निवारण करने में समर्थ है।

ऊँच- नीच, जाति- पाति का भेद मिटाकर सबको एक समान सामाजिक स्तर देने का कार्य किया। आज के संदर्भ में भी इसी चीज की जरुरत है।

गुप्त प्रगट है एकै दुधा, काको कहिए वामन- शुद्रा
झूठो गर्व भूलो मति कोई, हिंदू तुरुक झूठ कुल दोई॥

वर्तमान समस्याएँ चाहे सांप्रदायिक हो चाहे वैयक्तिक, सबका समुचित समाधान नैतिक मूल्य प्रस्तुत करते हैं।

कबीर दर्शन में जाति- धर्म का कोई बंधन स्वीकार नहीं है। सारे अलगाववादी विधानों को तोड़कर वह एक शुद्र मानव जाति का निर्माण करता है, इसलिए आज के संदर्भ में इसकी उपयोगिता बढ़ गई है।

कबीर की रचनाएँ

कबीरदास ने हिन्दू-मुसलमान का भेद मिटा कर हिन्दू-भक्तों तथा मुसलमान फकीरों का सत्संग किया और दोनों की अच्छी बातों को हृदयंगम कर

लिया। संत कबीर ने स्वयं ग्रंथ नहीं लिखे, मुँह से बोले और उनके शिष्यों ने उसे लिख लिया। कबीरदास अनपढ़ थे। कबीरदास के समस्त विचारों में राम-नाम की महिमा प्रतिध्वनित होती है। वे एक ही ईश्वर को मानते थे और कर्मकाण्ड के घोर विरोधी थे। अवतार, मूर्त्ति, रोजा, ईद, मस्जिद, मंदिर आदि को वे नहीं मानते थे। कबीर के नाम से मिले ग्रंथों की संख्या भिन्न-भिन्न लेखों के अनुसार भिन्न-भिन्न है। कबीर की वाणी का संग्रह 'बीजक' के नाम से प्रसिद्ध है। इसके तीन भाग हैं-

1. रमैनी
2. सबद
3. साखी

इसमें वेदांत तत्व, हिन्दू-मुसलमान को फटकार, संसार की अनित्यता, हृदय की शुद्धि, प्रेमसाधना की कठिनता, माया की प्रबलता, मूर्तिपूजा, तीर्थाटन आदि की असारता, हज, नमाज, व्रत, आराधना की गौणता इत्यादि अनेक प्रसंग हैं। सांप्रदायिक शिक्षा और सिद्धांत के उपदेश मुख्यतः 'साखी' के भीतर हैं जो दोनों में हैं। इनकी भाषा सधुक्कड़ी अर्थात् राजस्थानी और पंजाबी मिली खड़ी बोली है, पर 'रमैनी' और 'सबद' में गाने के पद हैं जिनमें काव्य की ब्रजभाषा और कहीं-कहीं पूरबी बोली का भी व्यवहार है।

यह ऐसा संसार है, जैसा सेंबल फूल।
दिन दस के व्यौहार को, झूठे रंग न भूलि ? - कबीर
काजल केरी कोठरी, काजल ही का कोट।
बलिहारी ता दास की, जे रहै राम की ओट ? - कबीर
हम देखत जग जात हैं, जब देखत हम जांह।
ऐसा कोई ना मिलै, पकड़ि छुड़ावै बांह ? - कबीर

बीजक

बीजक' कबीरदास के मतों का पुराना और प्रामाणिक संग्रह है, इसमें संदेह नहीं। एक ध्यान देने योग्य बात इसमें यह है कि 'बीजक' में 84 रमैनियाँ हैं। रमैनियाँ चौपाई छंद में लिखी गई हैं। इनमें कुछ रमैनियाँ ऐसी हैं। जिनके अंत में एक-एक साखी उद्धृत की गई है। साखी उद्धृत करने का अर्थ यह होता है कि कोई दूसरा आदमी मानों इन रमैनियों को लिख रहा है और इस रमैनी-रूप व्याख्या के प्रमाण में कबीर की साखी या गवाही पेश कर रहा है। जालंधरनाथ

के शिष्य कुण्णपाद (कानपा) ने कहा है–'साखि करब जालंधरि पाए', अस्तु बहुत थोड़ी-सी रमैनियाँ (नं. 3, 28 32, 42, 56, 62, 70, 80) ऐसी हैं जिनके अंत में साखियाँ नहीं हैं। परंतु इस प्रकार उद्धृत करने का क्या अर्थ हो सकता है? इस पुस्तक में मैंने 'बीजक' को निस्संकोच प्रमाण-रूप में व्यवहृत है, पर स्वयं 'बीजक' ही इस बात का प्रमाण है कि साखियों को सबसे अधिक प्रामाणिक समझना चाहिए, क्योंकि स्वंय 'बीजक' ने ही रमैनियों की प्रामाणिकता के लिए साखियों का हवाला दिया है। इसीलिए कबीरदास ए सिद्धांतों की जानकारी का सबसे उत्तम साधन साखियाँ हैं।

कबीर रचनावली

कबीरदास की वाणियों के अनेक संग्रह प्रकाशित हुए है, पर उनमें सबसे अच्छा सुसंपादित संस्करण अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' की 'कबीर' रचनावली है। यह भी काशी नागरी प्रचारिणी सभा का ही प्रकाशन है। कबीरदास के पदों में जितने संबोधन हैं उन सबका एक-न- एक खास प्रयोजन है। जब उन्होंने 'अवधू' या 'अवधूत' को पुकारा है तो यथासंभव अवधूत की ही भाषा में उसी के क्रिया-कलाप की आलोचना की है। इस प्रसंग में उनकी युक्ति और तर्कशैली पूर्णरूप से अवधूत-जैसी रहती है। जब वे पंडित या पाँडे को संबोधित करते हैं तो वहाँ भी उनका उद्देश्य पंडित की ही भाषा में पंडित की ही युक्तियों के बल पर उसके मत का निरास करना होता है। इसी तरह मुल्ला, काजी आदि संबोधनों को भी समझना चाहिए। जब वे अपने-आपको या संतों को संबोधित करके बोलते हैं तब वे अपना मत प्रकट करते जान पड़ते हैं। वे अपने मत के मानने वाले को ही 'संत' या साधु कहते हैं। साधारणत: वे 'भाई' संबोधन के द्वारा साधारण जनता से बात करते हैं और जब कभी वे 'जोगिया' को पुकार उठते हैं तो स्पष्ट जी जान पड़ता है कि इस भले आदमी के संबंध में उनकी धारणा कुछ बहुत अच्छी नहीं थी। यह दावा किया गया है कि गुरु-परपरा की जानकारी रखने वाले लोग कबीरदास के आत्म-संबोधन में एक निश्चित संकेत की बात बताया करते हैं।

अवधू और अवधूत

भारतीय साहित्य में यह 'अवधू' शब्द कई संप्रदायों के सिद्ध आचार्यों के अर्थ में व्यवहृत हुआ है। साधारणत: जागातिक द्वंद्वों से अतीत, मानापमान-विवर्जित,

पहुँचे हुए योगी को अवधूत कहा जाता है। यह शब्द मुख्यतया तांत्रिकों, सहजयानियों और योगियों का है। सहजयान और वज्रयान नामक बौद्ध तांत्रिक मतों में 'अवधूती वृत्ति' नामक एक विशेष प्रकार की यौगिक वृत्ति का उल्लेख मिलता है। आठवीं शताब्दी के बाद से नालंदा, विक्रमशिला, ओदंतपुरी आदि विद्यायतनों में जो बौद्ध धर्म प्रचलित हुआ वह एक नवीन ढंग का तांत्रिक और योगक्रियामूलक धर्म था। इस नवीन तांत्रिक मत में तीन प्रधान मतों का संधान पाया जाता है-सहजयान, वज्रयान और कालचक्रयान। इन मतों की अधिकांश पुस्तकें आज तिब्बती अनुवाद के रूप में ही सुरक्षित हैं। स्व. हरप्रसाद शास्त्री ने 'चर्याचयीविनिश्चय', 'दोहाकोष', 'अद्वयवज्रसंग्रह' और 'गुह्य-समाजतंत्र' आदि पुस्तकें प्रकाशित की हैं। सहजयान और वज्रयान में बहुत कुछ समानता है। शास्त्री जी ने जो चर्यापद प्रकाशित कराए हैं उनमें आर्यदेव, भूसुक, कान्ह, सरह, लुई आदि आचार्यों के पद हैं, जिन्हें तिब्बती साहित्य में सिद्धाचार्य कहा गया है। ये आचार्यगण सहजवस्था की बात करते हैं। सहजावस्था को प्राप्त करने पर ही साधक अवधूत होता है।

तंत्र-ग्रंथों में चार प्रकार के अवधूतों की चर्चा है- ब्रह्मावधूत, शैवावधूत, भक्तावधूत और हंसावधूत। हंसावधूतों में जो पूर्ण होते हैं वे परमहंस और जो अपूर्ण होते हैं वे परिव्राजक कहलाते हैं (प्राण्तोषिणी)। परंतु कबीरदास ने न तो इतने तरह के अवधूतों की कहीं कोई चर्चा ही की है और न ऊपर 'निर्वाण-तंत्र' के बताए हुए अवधूत से उनके अवधूत की कोई समता ही दिखाई है। 'हंसा' की बात कबीरदास कहते जरूर हैं पर वे हंस और अवधूत को शायद ही कहीं एक समझते हों। वे बराबर हंस या पक्षी शुद्ध और मुक्त जीवात्मा को ही कहते हैं। इसी भाव को बताने के लिए भर्तृहरि ने कहा है कि इस अवधूत मुनि की बाह्य क्रियाएँ प्रशमित हो गई हैं। वह न दु:ख समझता है, न सुख को सुख। वह कहीं भूमि पर सो सकता है कहीं पलंग पर, कहीं कंथा धारण कर लेता है कहीं दिव्य वसन, कहीं मधुर भोजन पाने पर उसे भी पा लेता है। 'किंतु कबीरदास इस प्रकार योग में भोग को पंसद नहीं करते। यद्यपि इन योगियों के संप्रदाय के सिद्धों को ही कबीर अवधूत कहते हैं तथापि वे साधारण योगी अवधूत के फर्क को बराबर याद रखते हैं। साधारण योगी के प्रति उनके मन में वैसा आदर का भाव नहीं है जैसा अवधूत के बारे में है। कभी-कभी उन्होंने स्पष्ट भाषा में योगी को और अवधूत को भिन्न रूप से याद किया है। इस प्रकार कबीरदास का अवधूत नाथपंथी सिद्ध योगी है।

प्रसिद्ध है कि एक बार काशी के पंडितों में द्वैत और अद्वैत तत्त्व का शास्त्रर्थ बहुत दिनों तक चलता रहा। जब किसी शिष्य ने कबीर साहब का मत पूछा तो उन्होंने जवाब में शिष्य से ही कई प्रश्न किए। शिष्य ने जो उत्तर दिया उसका सार-मर्म यह था कि विद्यमान पंडितों में इस विषय में कोई मतभेद नहीं है कि भगवान, रूप, रस, गंध एवं स्पर्श से परे हैं, गुणों और क्रियाओं के अतीत हैं, वाक्य और मन के अगोचर हैं। कबीरदास ने हसँकर जवाब दिया कि भला उन लड़ने वाले पंडितों से पूछो कि भगवान रूप से निकल गया, रस से निकल गया, रस से अतीत हो गया, गुणों के ऊपर उठ गया, क्रियाओं की पहुँच के बाहर हो रहा, वह अंत में आकर संख्या में अटक जाएगा? जो सबसे परे है वह क्या संख्या के परे नहीं हो सकता? यह कबीर का द्वैताद्वैत-विलक्षण समतत्त्ववाद है।

निरंजन कौन है?

मध्ययुग के योग, मंत्र और भक्ति के साहित्य में 'निरंजन' शब्द का बारम्बार उल्लेख मिलता है। नाथपंथ में भी 'निरंजन' शब्द खूब परिचित है। साधारण रूप में 'निरंजन' शब्द निर्गुण ब्रह्म का और विशेष रूप से शिव का वाचक है। नाथपंथ की भाँति एक और प्राचीन पंथ भी था, जो निरंजन पद को परमपद मानता था। जिस प्रकार नाथपंथी नाथ को परमाराध्य मानते थे, उसी प्रकार ये लोग 'निरंजन' को। आजकल निरंजनी साधुओं का एक सम्प्रदाय राजपूताने में वर्तमान है। कहते हैं, इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक स्वामी निरानंद निरंजन भगवान (निर्गुण) के उपासक थे।

बंगाल के पश्चिमी हिस्सों तथा बिहार के पूर्वी जिलों में आज भी एक धर्ममत है, जिसके देवता निरंजन या धर्मराज हैं। एक समय यह सम्प्रदाय झारखण्ड और रीवाँ तक प्रचलित था। बाद में चलकर यह मत कबीर सम्प्रदाय में अंतर्भुक्त हो गया और उसकी सारी पौराणिक कथाएँ कबीर मत में गृहीत हो गईं, परन्तु उनका स्वर बदल गया। नाथपंथ में निरंजन की महिमा खूब गाई गई है। हठयोगी जब नादानुसंधान का सफल अभ्यासी हो जाता है तो उसके समस्त पाप क्षीण हो जाते हैं, उसके चित्त और मारुत निरंजन में लीन हो जाते हैं। यह योगी का परम साध्य है, क्योंकि जब तक ज्ञान निरंजन के साक्षात्कार तक नहीं उठता तभी तक इस संसार के विविध जीवों और नाना पदार्थों में भेद-दृष्टि बनी हुई है।

कबीर के दोहे

यहाँ कबीरदास के कुछ दोहे दिये गये हैं।

(1) साधू भूखा भाव का, धन का भूखा नाहिं।
धन का भूखा जी फिरै, सो तो साधू नाहिं

व्याख्या–कबीर दास जी कहते हैं कि संतजन तो भाव के भूखे होते हैं, और धन का लोभ उनको नहीं होता। जो धन का भूखा बनकर घूमता है वह तो साधू हो ही नहीं सकता।

(2) जैसा भोजन खाइये, तैसा ही मन होय।
जैसा पानी पीजिये, तैसी वाणी होय।।

व्याख्या–संत शिरोमणि कबीरदास कहते हैं कि जैसा भोजन करोगे, वैसा ही मन का निर्माण होगा और जैसा जल पियोगे वैसी ही वाणी होगी अर्थात् शुद्ध-सात्विक आहार तथा पवित्र जल से मन और वाणी पवित्र होते हैं इसी प्रकार जो जैसी संगति करता है वैसा ही बन जाता है।

कबीरदास जी के कुछ प्रसिद्ध दोहे

गुरु गोविंद दोउ खड़े काके लागूँ पाय।
बलिहारी गुरु आपने गोविंद दियो बताय।।

ऐसी वाणी बोलिए मन का आपा खोये।
औरन को शीतल करे, आपहुं शीतल होए।।

लूट सके तो लूट ले, राम नाम की लूट।
पाछे फिरे पछताओगे, प्राण जाहिं जब छूट

बड़ा भया तो क्या भया, जैसे पेड़ खजूर।
पंथी को छाया नहीं फल लागे अति दूर।।

बुरा जो देखन मैं चला, बुरा न मिलिया कोय।
जो मन देखा आपना, मुझ से बुरा न कोय।।

तिनका कबहुँ ना निंदये, जो पाँव तले होय।
कबहुँ उड़ आँखों पड़े, पीर घनेरी होय

दु:ख में सुमिरन सब करे, सुख में करे न कोय।
जो सुख में सुमिरन करे, तो दु:ख काहे को होय।।

माटी कहे कुमार से, तू क्या रोंदे मोहे।
एक दिन ऐसा आएगा, मैं रोंदुंगी तोहे।।

मांगन मरण सामान है, मत मांगो कोई भीख,।

मांगन से मरना भला, ये सतगुरु की सीख
चलती चक्की देख के, दिया कबीरा रोये।
दो पाटन के बीच में, साबुत बचा न कोए।।
काल करे सो आज कर, आज करे सो अब।
पल में परलय होएगी, बहुरि करेगा कब।।
माया मरी न मन मरा, मर-मर गए शरीर।
आशा तृष्णा न मरी, कह गए दास कबीर
जहाँ दया तहा धर्म है, जहाँ लोभ वहां पाप।
जहाँ क्रोध तहां काल है, जहाँ क्षमा वहां आप।।
जो घट प्रेम न संचारे, जो घट जान सामान।
जैसे खाल लुहार की, सांस लेत बिनु प्राण।।
कबीरा जब हम पैदा हुए, जग हँसे हम रोये।
ऐसी करनी कर चलो, हम हँसे जग रोये
कबीर सुता क्या करे, जागी न जपे मुरारी।
एक दिन तू भी सोवेगा, लम्बे पाँव पसारी
कबीर खडा बाजार में, सबकी मांगे खैर।
ना काहूँ से दोस्ती, ना काहूँ से बैर
उठा बगुला प्रेम का, तिनका चढ़ा अकास।
तिनका तिनके से मिला, तिन का तिन के पास
पोथी पढ़ पढ़ जग मुआ, पंडित भया न कोय।
ढाई आखर प्रेम का, पढ़े सो पंडित होय।।
राम बुलावा भेजिया, दिया कबीरा रोय।
जो सुख साधू संग में, सो बैकुंठ न होय
साधू गाँठ न बाँधई उदर समाता लेय।
आगे पाछे हरी खड़े जब माँगे तब देय
साईं इतना दीजिये, जामे कुटुंब समाये।
मैं भी भूखा न रहूँ, साधू न भूखा जाए।।
सुमिरन सूरत लगाईं के, मुख से कछु न बोल।
बाहर का पट बंद कर, अन्दर का पट खोल।।
कामी क्रोधी लालची, इनसे भक्ति न होय।
भक्ति करे कोई सुरमा, जाती बरन कुल खोए।।

3

रसखान

रसखान, जन्म: 1548 ई कृष्ण भक्त मुस्लिम कवि थे। उनका जन्म पिहानीए भारत में हुआ था। हिन्दी के कृष्ण भक्त तथा रीतिकालीन रीतिमुक्त कवियों में रसखान का अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान है। वे विट्ठलनाथ के शिष्य थे एवं वल्लभ संप्रदाय के सदस्य थे। रसखान को 'रस की खान' कहा गया है। इनके काव्य में भक्ति, श्रृंगार रस दोनों प्रधानता से मिलते हैं। रसखान कृष्ण भक्त हैं और उनके सगुण और निर्गुण निराकार रूप दोनों के प्रति श्रद्धावनत हैं। रसखान के सगुण कृष्ण वे सारी लीलाएं करते हैं, जो कृष्ण लीला में प्रचलित रही हैं। यथा। बाललीला, रासलीला, फागलीला, कुंजलीला, प्रेम वाटिका सुजान रसखान आदि। उन्होंने अपने काव्य की सीमित परिधि में इन असीमित लीलाओं को बखूबी बाँधा है। मथुरा जिले में महाबन में इनकी समाधि है।

समाधि

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने जिन मुस्लिम हरिभक्तों के लिये कहा थाए "इन मुसलमान हरिजनन पर कोटिन हिन्दू वारिए, उनमें रसखान का नाम सर्वोपरि है। बोधा और आलम भी इसी परम्परा में आते हैं। सय्यद इब्राहीम रस खान का जन्म अन्तर्जाल पर उपलब्ध स्रोतों के अनुसार सन् 1533 से 1558 के बीच कभी हुआ था। कई विद्वानों के अनुसार इनका जन्म सन् 1590 ई. में हुआ था। चूँकि अकबर का राज्यकाल 1556.1605 है, ये लगभग अकबर के समकालीन हैं। इनका जन्म

स्थान पिहानी जो कुछ लोगों के मतानुसार दिल्ली के समीप है। कुछ और लोगों के मतानुसार यह पिहानी उत्तरप्रदेश के हरदोई जिले में है। माना जाता है की इनकी मृत्यु 1628 में वृन्दावन में हुई थी। यह भी बताया जाता है कि रसखान ने भागवत का अनुवाद फारसी और हिंदी में किया है।

रसखान के जन्म के सम्बंध में विद्वानों में मतभेद पाया जाता है। अनेक विद्वानों ने इनका जन्म संवत् 1615 ई. माना है और कुछ ने 1630 ई. माना है। रसखान के अनुसार गदर के कारण दिल्ली 'मशान बन चुकी थी' तब दिल्ली छोड़कर वह ब्रज (मथुरा) चले गए। ऐतिहासिक साक्ष्य के आधार पर पता चलता है कि उपर्युक्त गदर सन् 1613 ई. में हुआ था। उनकी बात से ऐसा प्रतीत होता है कि वह उस समय वयस्क हो चुके थे।

रसखान का जन्म संवत् 1590 ई. मानना अधिक समीचीन प्रतीत होता है। भवानी शंकर याज्ञिक का भी यही मानना है। अनेक तथ्यों के आधार पर उन्होंने अपने मत की पुष्टि भी की है। ऐतिहासिक ग्रंथों के आधार पर भी यही तथ्य सामने आता है। यह मानना अधिक प्रभावशाली प्रतीत होता है कि रसखान का जन्म सन् 1590 ई. में हुआ था।

रसखान के जन्म स्थान के विषय में भी कई मतभेद हैं। कई विद्वान उनका जन्म स्थल पिहानी अथवा दिल्ली को मानते हैं। शिवसिंह सरोज तथा हिन्दी साहित्य के प्रथम इतिहास तथा ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर रसखान का जन्म स्थान पिहानी जिला हरदोई माना जाए।

रसखान अर्थात् रस के खान, परंतु उनका असली नाम सैयद इब्राहिम था और उन्होंने अपना नाम केवल इस कारण रखा ताकि वे इसका प्रयोग अपनी रचनाओं पर कर सकें।

रसखान तो रसखान ही था जिसके नाम में भी रस की खान थी। रसखान जैसा भगवान का भक्त होना मुश्किल है। जय श्री कृष्णा!

रसखान के जन्म के संबंध में विद्वानों में मतभेद पाया जाता है। अनेक विद्वानों ने इनका जन्म संवत् 1615 ई. माना है और कुछ विद्वानों ने 1630 ई. माना है।

रसखान स्वयं बताते हैं कि गदर के कारण दिल्ली श्मशान बन चुकी थी, तब उसे छोड़कर वे ब्रज चले गये। ऐतिहासिक साक्ष्य के आधार पर पता चलता है कि उपर्युक्त गदर सन् 1613 ई. में हुआ था। उनकी बात से ऐसा प्रतीक होता है कि वह गदर के समय वयस्क थे और उनका जन्म गदर के पहले ही हुआ होगा।

जन्म स्थान

रसखान के जन्म स्थान के विषय में अनेक विद्वानों ने अनेक मत प्रस्तुत किए हैं। कई तो रसखान के जन्म स्थान पिहानी अथवा दिल्ली को बताते हैं, किंतु यह कहा जाता है कि दिपाली शब्द का प्रयोग उनके काव्य में केवल एक बार ही मिलता है। जैसा कि पहले लिखा गया कि रसखान ने गदर के कारण दिल्ली को श्मशान बताया है। उसके बाद की जिंदगी उसकी मथुरा में गुजरी। शिवसिंह सरोज तथा हिंदी साहित्य के प्रथम इतिहास तथा ऐतिहासिक तथ्यों एवं अन्य पुष्ट प्रमाणों के आधार पर रसखान की जन्म- भूमि पिहानी जिला हरदोई माना जाए। पिहानी और बिलग्राम ऐसे जगह हैं, जहाँ हिंदी के बड़े-बड़े एवं उत्तम कोटि के मुसलमान कवि पैदा हुए।

नाम एवं उपनाम

जन्म- स्थान तथा जन्म काल की तरह रसखान के नाम एवं उपनाम के संबंध में भी अनेक मत प्रस्तुत किए गए हैं। हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने अपनी पुस्तक में रसखान के दो नाम लिखे हैं–सैय्यद इब्राहिम और सुजान रसखान। जबकि सुजान रसखान की एक रचना का नाम है। हालांकि रसखान का असली नाम सैयद इब्राहिम था और "खान" उसकी उपाधि थी।

नवलगढ़ के राजकुमार संग्रामसिंह जी द्वारा प्राप्त रसखान के चित्र पर नागरी लिपि के साथ-साथ फारसी लिपि में भी एक स्थान पर 'रसखान' तथा दूसरे स्थान पर 'रसखाँ' ही लिखा पाया गया है। उपर्युक्त सबूतों के आधार पर कहा जा सकता है कि रसखान ने अपना नाम 'रसखान' सिर्फ इसलिए रखा था कि वह कविता में इसका प्रयोग कर सके। फारसी कवियों की नाम चसिप्त में रखने की परंपरा का पालन करते हुए रसखान ने भी अपने नाम खाने के पहले 'रस' लगाकर स्वयं को रस से भरे खान या रसीले खान की धारणा के साथ काव्य-रचना की। उनके जीवन में रस की कमी न थी। पहले लौकिक रस का आस्वादन करते रहे, फिर अलौकिक रस में लीन होकर काव्य रचना करने लगे। एक स्थान पर उनके काव्य में 'रसखाँ' शब्द का प्रयोग भी मिलता है।

नैन दलालनि चौहटें म मानिक पिय हाथ।
'रसखाँ' ढोल बजाई के बेचियों हिय जिय साथ॥

उपर्युक्त साक्ष्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि उनका नाम सैय्यद इब्राहिम तथा उपनाम 'रसखान' था।

बाल्यकाल तथा शिक्षा

रसखान एक जागीरदार पिता के पुत्र थे। इसलिए इनका लालन पालन बड़े लाड़- प्यार से हुआ माना जाता है। ऐसा इसलिए कहा जाता है कि उनके काव्य में किसी विशेष प्रकार की कटुता का सरासर अभाव पाया जाता है। एक संपन्न परिवार में पैदा होने के कारण उनकी शिक्षा अच्छी और उच्च कोटि की, की गई थी। उनकी यह विद्वत्ता उनके काव्य की साधिकार अभिव्यक्ति में जग जाहिर होते हैं। रसखान को फारसी हिंदी एवं संस्कृति का अच्छा ज्ञान था। फारसी में उन्होंने "श्रीमद्भागवत" का अनुवाद करके यह साबित कर दिया था। इसको देख कर इस बात का अभास होता है कि वह फारसी और हिंदी भाषाओं के अच्छा वक्ता होंगे।

रसखान ने अपना बाल्य जीवन अपार सुख- सुविधाओं में गुजारा होगा। उन्हें पढ़ने के लिए किसी मकतब में जाने की आवश्यकता नहीं पड़ी होगी।

रसखान और उसकी काव्य का भाव एवं विषय–

सैय्यद इब्राहिम रसखान के काव्य के आधार भगवान श्रीकृष्ण हैं। रसखान ने उनकी ही लीलाओं का गान किया है। उनके पूरे काव्य- रचना में भगवान श्रीकृष्ण की भक्ति की गई है। इससे भी आगे बढ़ते हुए रसखान ने सुफिज्म (तसव्वुफ) को भी भगवान श्रीकृष्ण के माध्यम से ही प्रकट किया है। इससे यह कहा जा सकता है कि वे सामाजिक एवं आपसी सौहार्द के कितने हिमायती थे। उनके द्वारा अपनाए गए काव्य विषयों को तीन खण्डों में बाँटा गया है -

- कृष्ण लीलाएँ,
- बाल लीलाएँ,
- गोचरण लीलाएँ।

कृष्ण लीलाएँ

लीला का सामान्य अर्थ खेल है। कृष्ण- लीला से मुराद कृष्ण (प्रभु) का खेल। इसी खेल को सृष्टि माना जाता है। सृजन एवं ध्वंस को व्यापकता के आधार पर सृष्टि कहा जाता है। कृष्ण- लीला और आनंदवाद एक- दूसरे से संबंधित है, जिसने लीला को पहचान लिया है, उसने आनंद धाम को पहुँच कर हरि लीला के दर्शन कर लिए। रसखान चूँकि प्रेम के स्वच्छंद गायक थे। इन लीलाओं में उन्होंने प्रेम की अभिव्यक्ति भगवान श्री कृष्ण को आधार मानकर की है।

यह अलग बात है कि रसखान ने लीलाओं की व्याख्या दर्शन न हो, परंतु उन्होंने इसको अपना कर आज तक भारतीय समाज को एक बेशकीमती तोहफा दिया है। कृष्ण की अनेक लीलाओं के दर्शन रसखान ने अपने काव्य में कराये हैं। इन लीलाओं में कई स्थानों पर अध्यात्मिक झलक भी पायी जाती है। रसखान की काव्य रचना में बाललीला, गौरचरण- लीला, कुँजलीला, रासलीला, पनघटलीला, दानलीला, वनलीला, गौरस लीला आदि लीलाओं के दर्शन होते हैं। सुरदास ने जिस भक्ति भावनाओं से हरि लीला का गान किया है, रसखान के काव्य में उसका अभाव है।

बाल लीलाएँ

रसखान ने कृष्ण के बाल- लीला संबंधी कुछ पदों की रचना की है, किंतु उनके पद कृष्ण के भक्त जनों के कंठहार बने हुए हैं। अधिकतर कृष्ण भक्त इन पदों को प्रायः गाया करते हैं -

काग के भाग बड़े सजनी हरि
हाथ सौं ले गयो माखन रोटी।

कृष्ण के मानवीय स्वरूप ने रसखान को अधिक प्रभावित किया, लेकिन रसखान ने अपने पदों में उनके ब्रह्मत्व को खास स्थान दिया है।

इस बाल- लीलाओं में रसखान ने कृष्ण को एक शिशु के रूप में दिखाया है। उनके लिए छौने शब्द का प्रयोग किया गया है -

आगु गई हुति भोर ही हों रसखानि,
रई बहि नंद के भौनंहि।
बाको जियों जुगल लाख करोर जसोमति,
को सुख जात कहमों नहिं।
तेल लगाई लगाई के अजन भौहिं बनाई
बनाई डिठौनहिं।
डालि हमेलिन हार निहारत बारात ज्यों,
चुचकारत छोनहिं।

दूसरे पदों में रसखान ने श्रीकृष्ण को खेलते हुए सुंदर बालक के रूप में चित्रित किया है -

धूरि भरे अति शोभित 'यामजू तैसी,
बनी सिरसुंदर चोटी।

खलत खात फिरे अंगना पग पैजनी,
बाजति पीरी कछोटी।
वा छवि को रसखान विलोकत वरात,
काम कलानिधि कोटी।
काग के भाग बड़े सजनी हरि हाथ सौं,
ले गयो माखन रोटी।

रसखान के बाल- लीला के संबंध रखने वाले पद बहुत ही सुंदर एवं भावपूर्ण हैं।

कृष्ण धूल में भी आंगन में खेलते- खाते हुए फिर रहे हैं। घूंघरु बज रहे हें। हाथ में माखन रोटी है। कौआ आकर कृष्ण जी के हाथ से रोटी लेकर उड़ जाता है। काग की यह आम आदत है कि वह बच्चों के हाथों से कुछ छीन कर भाग जाता है। इस दृश्य को रसखान ने हृदयस्पर्शी बना दिया है।

गोचरण लीलाएँ

कृष्ण- जी जब बड़े होते हैं, वह ग्वालों के साथ गायें चराने वन जाने लगते हैं। कृष्ण जी की गोचरण की तमाम अदाओं पर गोपियाँ दिवानी होने लगती है। कृष्ण जी धीर सभी कालिंदी के तीर खड़े हो गउएँ चरा रहे हैं। गाएँ घेरने के बहाने गोपियों से आकर अड़ जाते हैं -

गाई दहाई न या पे कहूँ, नकहूँ यह मेरी गरी,
निकस्थौ है।
धीर समीर कालिंदी के तीर टूखरयो रहे आजु,
ही डीठि परयो है।
जा रसखानि विलोकत ही सरसा ढरि रांग सो,
आग दरयो है।
गाइन घेरत हेरत सो पंट फेरत टेरत,
आनी अरयो है।

कृष्णा वंशी बजाते गाय चराते हुए कुंजों में डोलते हैं। गोपियाँ कृष्ण के गोचरण-रूप में प्राण देने को तैयार हैं। जिस दिन से कृष्ण ने गायें चराई हैं, उसी दिन से गोपियों पर टोना सा हो गया है। केवल गोपियाँ ही नहीं, संपूर्ण ब्रज कृष्ण के हाथ बिक गया है।

रसखान ने कृष्ण की गोचरण लीला को मनोहर चित्रात्मक ढंग से दर्शाया है। अंत पटल पर एक के बाद एक दृश्य को काफी सुंदर तरीके से चित्रित किया गया है।

चीर- हरण लीला–
एक समै जमुना- जल में सब मज्जन हेत,
धंसी ब्रज- गोरी।
त्यौं रसखानि गयौ मन मोहन लेकर चीर,
कदंब की छोरी।
न्हाई जबै निकसीं बनिता चहुँ ओर चित,
रोष करो री।
हार हियें भरि भखन सौ पट दीने लाला,
वचनामृत बोरी।

रसखान ने चीरहरण लीला को बड़े ही नाटकीय ढंग से प्रस्तुत किया है। इसके लिए उन्होंने साधारण शब्दों का प्रयोग किया है। चीरहरण लीला अध्यात्म पक्ष में आत्मा का नग्न होकर माया के आवरणीय सांसारिक संस्कारों से पृथक होकर प्रभु से मिलना है। इसमें संपूर्ण की संपूर्णता है, जिसमें अपना कुछ नहीं रहता, सबकुछ प्रभु का हो जाता है। जमुना में नहाती हुई गोपियों की दशा का वर्णन करते हुए रसखान कहते हैं कि गोपियाँ नहाने जाती हैं और कृष्ण उनके वस्त्र लेकर कदंब के पेड़ पर चढ़ जाते हैं। नहाने के पश्चात् गोपियाँ चारों ओर अपने वस्त्र ढूँढती है और क्रोध करती हैं। वे थक- हार कर मीठे बोलकर कृष्ण से अपने वस्त्र माँगती है।

कुँजलीला

वृंदावन की कुँजी में गोपियों का कृष्ण के साथ विहार काफी प्रसिद्ध रहा है। कुँजलीला का चित्रण रसखान रमणीयता के साथ किया है। वे लिखते हैं कि गोपियों को रास्ते में कृष्ण जी घेर लेते हैं। कृष्ण जी के रूप अच्छे होने के कारण बेचारी गोपियाँ घिर जाती है। कृष्ण जी कुँज से रंगीली मुस्कान के साथ बाहर होते हैं, उनका यह रूप देखकर गोपियों का घर से संबंध समाप्त हो जाता है, इन्हें आरज- लाज, बड़ाई का भी ध्यान नहीं रहता है -

रंग भरयौ मुसकात लला निकस्यौ कल कुंजन ते सुखदाई
टूटि गयो घर को सब बंधन छूटि गौ आरज- लाज- बड़ाई

रासलीला

श्री कृष्ण जी की लीलाओं में रसलीला का आध्यात्मिक महत्त्व है। रासलीला मानसिक भावना के साथ- साथ लौकिक धरातल पर अनुकरणात्मक होकर दृश्य- लीला का रूप धारण कर लेती है। अत: इसके प्रभाव की परिधि अन्य लीलाओं की अपेक्षा अधिक व्यापक हो जाती है। ग्रासंश् शब्द का संसर्ग रहस्य शब्द से भी है, जो एकांत आनंद का सूचक है। रासलीला के स्वरूप का विचार प्राचीन काल से ही होता आया है। लीला के समस्त रूप भगवान की ही प्रतिपादन करते हैं। भागवत पुराण में रासलीला का विस्तार से विवेचन मिलता है।

रसखान ने रासलीला का वर्णन कई पदों में किया है। इनका रास वर्णन परंपरागत रास वर्णन से एकदम भिन्न है। रसखान के रास- लीला पदों में राधा को वह महत्त्व नहीं मिलता हे, जो

वैष्णव कवियों ने अपने पदों में राधा को महत्त्व दिया है। रसखान ने अपने पदों में मुरली को भी वह प्रतिष्ठा नहीं दी है, जो सूरदास और दूसरे कवियों ने दी है।

लै लै नाम सबनिकौ टेरे, मुरली- धुनि सब ही के ने रें।

हालांकि सूरदास की गोपियों के समान रसखान की गोपियाँ भी ध्वनि सुनकर बेचैन हो जाती हैं और यह अनुभव करती है कि कृष्ण उन्हें मुरली के माध्यम से बुला रहे हैं -

अधर लगाइ रस प्याइ बाँसुरी बजाई
मेरो नाम गाइ हाइ जादू कियो मन में।
नटखट नवल सुघर नंदनंदन ने,
करि के अचौत चेत हरि कै जतन में।
झटपट उलट पुलट पर परिधान,
जान लागीं लालन पै सबै बाम बन में।
रस रास सरस रंगीलो रसखानि आनि,
जानि जोर गुगुति बिलास कियौ जन में।

रास की सूचना मिलते ही गोपियाँ विवश हो जाती हैं। उन्हें मार्ग की कोई बाधा रोक नहीं पाती है। ये तो शीत की चिंता भी नहीं करती हैं और चल देती हैं -

कीगै कहा जुपै लोग चवाब सदा करिबो करि हैं
बृज मारो।
सीत न रोकत राखत कागु सुगावत ताहिरी
गाँव हारो।
आवरी सीरी करै अंतियां रसखान धनै धन
भाग हमारौ।
आवत हे फिरि आज बन्यो वह राति के रास को
नायन हारौ।

गोपियाँ एक-दूसरे से कह रही हैं कि वंशीवट के तट पर कृष्ण ने रास रचाया है। कोई भी सुंदर भाव उनसे नहीं बच सका। गोपियों ने कुल मर्यादा बनाये रखने का प्रण किया था, किंतु वे रास रचाये जाने की सूचना पाकर उसे देखे बिना नहीं रह सकी और अपने प्रण से विचलित हो गयीं -

आज भटू मुरली बट के तट के नंद के साँवरे रास रच्योरी।
नैननि सैननि बैननि सो नहिं कोऊ मनोहर भाव बच्योरी।
जद्यपि राखन कों कुलकानि सबैं ब्रजबालन प्रान पच्योरी।
तथापि वा रसखानि के हाथ बिकानि कों अंत लच्यो पै लच्योरी।
सूरदास–
संग ब्रजनारि हरि रास कीन्हों।
सबन की आस पूरन करी 'याम जै त्रियनि पियहेत सुख मानि लीन्हो।
भेंटि कुलकानि मर्यादा- विधि वेद की त्यगि गृह नेह सुनि बेन घाई।
कबी जै जै करो मनहिं सब जै करी रांक काहू न करो आप भाई।

रसखान और अन्य वैष्णव कवियों की रास वर्णन में भिन्नता व्याप्त है। रसखान की गोपियों को भी कुलमर्यादा का ध्यान रहता है, फिर भी वह सब रास-स्थल पर पहुँच जाती हैं। रसखान की गोपियों में केवल कृष्ण- रास की विविध क्रीड़ाओं के दर्शन होते दिखाई देते हैं।

पनघट लीला

पनघट लीला संबंधी रसखान के केवल तीन ही पद पाए जाते हैं। जमुना पर जल लेने जा रहीं गोपियों को रास्ते में घेर कर, कृष्ण उमंग में भर आलिंगन करते हुए बहाने से मुख चूम लेते हैं। गोपियाँ लोक लाज को बचाने के लिए परेशान हो जाती हैं, उनके हृदय में कृष्ण सांवरी मूर्ति घर कर गई थी।

ब्रज बालाओं को जमुना में नहाने जाना हो, तो वे कृष्ण के डर से ठिठकती हुई जाती हैं। अचानक कृष्ण जी भी गाते बजाते वहाँ पहुँच जाते हैं। कामदेव गोपियों की बुद्धि का नाश कर देता है। चकोर की भाँति परिणाम का विचार न करती हुई ये स्नेह दिवानी होकर गिर पड़ती हैं–

आई सबै ब्रज गोपालजी ठिठकी ह्यवै गली
जमुना जल नहाने।
ओचक आइ मिले रसखानि बजावत बेनू
सुनावत ताने।
हा हा करी सिसको सिगरी मति मैन हरी
हियरा हुलसाने।
घूमैं दिवानी अमानी चकोर सौं और दोऊ
चलै दग बाने।

दानलीला

रसखान ने दानलीला से संबंधित दोहे बड़ी ही सुंदरता से कहे हैं–

दानी नए भए माँबन दान सुनै गुपै कंस तो बांधे नगैहो
रोकत हीं बन में रसखानि पसारत हाथ महा दुख पैहो।
टूटें धरा बछरदिक गोधन जोधन हे सु सबै पुनि दहो।
जेहै जो भूषण काहू तिया कौ तो मोल छला के लाला न विकेहो।

कृष्ण राधा को रास्ते में छेड़ते हैं और दही तथा माखन दान में माँगते हैं। राधा को कृष्ण धमकाते हैं, किंतु राधा पर उसका तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ता है। राधा के ताने और बातें सुनकर कृष्ण थक जाते हैं, किंतु राधा अपनी जगह पर अटल रहती हैं और कृष्ण को बुरा- भला सुनाती है–

नो लख गाय सुनी हम नंद के तापर दूध दही न अघाने।
माँगत भीख फिरौ बन ही बन झूठि ही बातन के मन मान।
और की नारिज के मुख जोवत लाज गहो कछू होइ सयाने।
जाहु भले जु भले घर जाहु चले बस जाहु बिंद्रावन जानो।

रसखान का दान लीला साहित्यिक दृष्टि से उच्च कोटि का है। उनके दान लीला की सबसे बड़ी विशेषता है कि इसमें राधा और कृष्ण के संवाद को नाट्कीय, स्वाभाविक और सरल अंदाज से पेश किया गया है।

राधा और कृष्ण की वन में भेंट–

एक दिन राधा, कृष्ण को वन में मिलती है। रसखान को दोनों के मिलने में तीनों लोकों की सुषमा के दर्शन होते हैं–

लाडली लाल लर्तृ लखिसै अलि पुन्जनि कुन्जनी में छवि गाढ़ी।
उपजी ज्यौं बिजुरी सो जुरी चहुँ गूजरी केलिकलासम काढ़ी।
त्यौं रसखानि न जानि परै सुखमा तिहुँ लोकन की अति बाढ़ी।
बालन लाल लिये बिहरें, छहरें बर मोर पखी सिर ठाढ़ी।

अंत में रसखान राधा- कृष्ण का विवाह करा देते हैं। रसखान यहाँ वही सब करते हैं, जो एक कृष्ण भक्त को करना चाहिए। उनके इस स्वरूप को देखकर ब्रजवासी भी सुख का अनुभव करते हैं–

मोर के चंदन मोर बन्यौ दिन दूलह हे अली नंद को नंद।
श्री कृषयानुसुता दुलही दिन जोरी बनी विधवा सुखकंदन।
आवै कहयो न कुछु रसखानि री दोऊ फंदे छवि प्रेम के फंदन।
जाहि बिलोकैं सबै सुख पावत ये ब्रज जीवन हैं दुख ढ़ढन।

होली वर्णन

कृष्ण भक्त कवियों की तरह रसखान ने भी कृष्ण जी की उल्लासमयी लीलाओं का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। उन्होंने अपने पदों में कृष्ण को गोपियों के साथ होली खेलते हुए दिखाया गया है, जिनमें कृष्ण गोपियों को किंभगो देते हैं। गोपियाँ फाल्गुन के साथ कृष्ण के अवगुणों की चर्चा करते हुए कहती हैं कि कृष्ण ने होली खेल कर हम में काम-वासना जागृत कर दी है। पिचकारी तथा घमार से हमें भगो दिया है। इस तरह हमारा हार भी टूट गया है। रसखान अपने पद में कृष्ण को मर्यादा-हीन चित्रित किया है–

आवत लाल गुलाल लिए मग सुने मिली इक नार नवीनी।
त्यों रसखानि जगाइ हिये यटू मोज कियो मन माहि अधीनी।
सारी फटी सुकुमारी हटी, अंगिया दरकी सरकी रंग भीनी।
लाल गुलाल लगाइ के अंक रिझाइ बिदा करि दीनी।
वृषभान के गेह दिवारी के द्योस अहीर अहीरिनि भरे भई।
जित ही तितही धुनि गोधन की सब ही ब्रज ह्मवै रह्यो राग भई।
रसखान तबै हरि राधिका यों कुछ सेननि ही रस बेल बई।
उहि अंजन आँखिनि ऑज्यों भटू उन कुंकुम आड़ लिलार दई।

हरि शंकरी

रसखान हरि और शंकर को अभिन्न मानते थे–

इक और किरीट बसे दुसरी दिसि लागन के गन गाजत री।
मुरली मधुरी धुनि अधिक ओठ पे अधिक नाद से बाजत री।
रसखानि पितंबर एक कंधा पर वघंबर राजत री।
कोड देखड संगम ले बुड़की निकस याह भेख सों छाजत री।

शिव- स्तुति

रसखान के पदों में कृष्ण के अलावा कई और देवताओं का जिक्र मिलता है। शिव की सहज कृपालुता की ओर संकेत करते हुए कहते हैं कि उनकी कृपा दृष्टि संपूर्ण दुखों का नाश करने वाली है -

यह देखि धतूरे के पात चबात औ गात सों धूलि लगावत है।
चहुँ ओर जटा अंटकै लटके फनि सों कफनी पहरावत हैं।
रसखानि गेई चितवैं चित दे तिनके दुखदुंद भाजावत हैं।
गजखाल कपाल की माल विसाल सोगाल बजावत आवत है।

गंगा- गरिमा

गंगा की महिमा के वर्णन की परिपाटी का अनुसरण करते हुए रसखान ने भी गंगा की स्तूति में एक पद ही सही, मगर लिखा है -

बेद की औषद खाइ कछु न करै बहु संजम री सुनि मोसें।
तो जलापान कियौ रसखानि सजीवन जानि लियो रस तेर्तृ।
एरी सुघामई भागीरथी नित पथ्य अपथ्य बने तोहिं पोसे।
आक धतूरो चाबत फिरे विष खात फिरै सिव तेऐ भरोसें।

प्रेम तथा भक्ति

प्रेम तथा भक्ति के क्षेत्र में भी रसखान ने प्रेम का विषद् और व्यापक चित्रण किया है। राधा और कृष्ण प्रेम-वाटिका के मासी मासिन हैं। प्रेम का मार्ग कमल तंतू के समान नागुक और अतिधार के समान कठिन है। अत्यंत सीधा भी है और टेढ़ा भी है। बिना प्रेमानुभूति के आनंद का अनुभव नहीं होता। बिना प्रेम का बीज हृदय में नहीं उपजता है। ज्ञान, कर्म, उपासना सब अहंकार के मूल हैं। बिना प्रेम के दृढ़ निश्चय नहीं होता। रसखान द्वारा प्रतिपादित प्रेम आदर्शों से अनुप्रेरित है।

रसखान ने प्रेम का स्पष्ट रूप में चित्रण किया है। प्रेम की परिभाषा, पहचान, प्रेम का प्रभाव, प्रेम प्रति के साधन एवं प्रेम की पराकाष्ठा प्रेम वाटिका में दिखाई पड़ती है। रसखान द्वारा प्रतिपादित प्रेम लौकिक प्रेम से बहुत ऊँचा है। रसखान ने 52 दोहों में प्रेम का जो स्वरूप प्रस्तुत किया है, वह पूर्णतया मौलिक है।

अन्य प्राण के अंतर्गत रसखान ने फुटकर पद्य लिखे हैं। प्राय: भक्त कवि-युगम जोड़ी पर पद्य लिखते रहे हैं। रसखान ने भी इस परंपरा को अपनाया है।

भक्ति

ईश्वर के प्रति अनुराग को भक्ति कहते हैं। रसखान एक भक्त कवि हैं। उनका काव्य भक्ति भाव से भरपूर है।

वा लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहूँपुर को तजि डारौ।
आठहु सिद्धि नवाँ निधि को सुख नंद की गाइ चराई बिसरौ।
ए रसखानि गवै इन नैनन ते Ct के बन- बाग निहारै।
कोटिका यह कलघोत के धाम करील की कुंजन उपावारौ।

यहाँ स्थायी भाव देव विषयक रति अपने पूर्ण वैभव के साथ विद्यमान है–

कंचन मंदिर ऊँचे बनाई के
मानिक लाइ सदा झलकेयत।
प्रात ही ते सगरी नगरी।
नाग- मोतिन ही की तुलानि तलेयत।
जद्यपि दीन प्रजान प्रजापति की
प्रभुता मधवा ललचेयत।
ऐसी भए तो कहा रसखानि जो
सँवारे गवार सों नेह न लेयत।

रसखान की प्रेम वाटिका में निर्वेद -

प्रेम अगम अनुपम अमित सागर सरिस बखान।
जो आवत यहि ढिग बहुरि जात नाहिं रसखान।
आनंद- अनुभव होत नहिं बिना प्रेम जग जान।
के वह विषयानंद के ब्राह्मानंद बखान।
ज्ञान कर्म # उपासना सब अहमिति को मूल।
दृढ़ निश्चय नहिं होत बिन किये प्रेम अनुकूल।
काम क्रोध मद मोह भय लोभ द्रोह मात्सर्य।
इन सब ही ते प्रेम हे परे कहत मुनिवर्य।

4

तुलसीदास

गोस्वामी तुलसीदास (1511 - 1623) हिंदी साहित्य के महान कवि थे। इन्हें आदि काव्य रामायण के रचयिता महर्षि वाल्मीकि का अवतार भी माना जाता है। श्रीरामचरितमानस का कथानक रामायण से लिया गया है। रामचरितमानस लोक ग्रन्थ है और इसे उत्तर भारत में बड़े भक्तिभाव से पढ़ा जाता है। इसके बाद विनय पत्रिका उनका एक अन्य महत्त्वपूर्ण काव्य है। महाकाव्य श्रीरामचरितमानस को विश्व के 100 सर्वश्रेष्ठ लोकप्रिय काव्यों में 46वाँ स्थान दिया गया।

इनका जन्म स्थान विवादित है। कुछ लोग मानते हैं की इनका जन्म सोरों शूकरक्षेत्र, वर्तमान में कासगंज (एटा) उत्तर प्रदेश में हुआ था। कुछ विद्वान् इनका जन्म राजापुर जिला बाँदा (वर्तमान में चित्रकूट) में हुआ मानते हैं। जबकि कुछ विद्वान तुलसीदास का जन्म स्थान राजापुर को मानने के पक्ष में हैं।

राजापुर उत्तर प्रदेश के चित्रकूट जिला के अंतर्गत स्थित एक गाँव है। वहाँ आत्माराम दुबे नाम के एक प्रतिष्ठित संध्या नंददास भक्तिकाल में पुष्टिमार्गीय अष्टछाप के कवि नंददास जी का जन्म जनपद- कासगंज के सोरों शूकरक्षेत्र अन्तर्वेदी रामपुर (वर्त्तमान- श्यामपुर) गाँव निवासी भारद्वाज गोत्रीय सनाढ्य ब्राह्मण पं. सच्चिदानंद शुक्ल के पुत्र पं. जीवाराम शुक्ल की पत्नी चंपा के गर्भ से सम्वत्- 1572 विक्रमी में हुआ था। पं. सच्चिदानंद के दो पुत्र थे, पं. आत्माराम शुक्ल और पं. जीवाराम शुक्ल। पं. आत्माराम शुक्ल एवं हुलसी के पुत्र का नाम महाकवि गोस्वामी तुलसीदास था, जिन्होंने श्रीरामचरितमानस महाग्रंथ की

रचना की थी। नंददास जी के छोटे भाई का नाम चँदहास था। नंददास जी, तुलसीदास जी के सगे चचेरे भाई थे। नंददास जी के पुत्र का नाम कृष्णदास था। नंददास ने कई रचनाएँ- रसमंजरी, अनेकार्थमंजरी, भागवत्-दशम स्कंध, श्याम सगाई, गोवर्द्धन लीला, सुदामा चरित, विरहमंजरी, रूप मंजरी, रुक्मिणी मंगल, रासपंचाध्यायी, भँवर गीत, सिद्धांत पंचाध्यायी, नंददास पदावली हैं। राजपुर में प. आत्मासभा शुक्ल मान के ब्राह्मण रहते थे। उनकी धर्मपत्नी का नाम हुलसी था। संवत् 1511 के श्रावण मास के शुक्लपक्ष की सप्तमी तिथि के दिन अभुक्त मूल नक्षत्र में इन्हीं दम्पति के यहाँ तुलसीदास का जन्म हुआ। प्रचलित जनश्रुति के अनुसार शिशु बारह महीने तक माँ के गर्भ में रहने के कारण अत्यधिक हृष्ट-पुष्ट था और उसके मुख में दाँत दिखायी दे रहे थे। जन्म लेने के साथ ही उसने राम नाम का उच्चारण किया जिससे उसका नाम रामबोला पड़ गया। उनके जन्म के दूसरे ही दिन माँ का निधन हो गया। पिता ने किसी और अनिष्ट से बचने के लिये बालक को चुनियाँ नाम की एक दासी को सौंप दिया और स्वयं विरक्त हो गये। जब रामबोला साढ़े पाँच वर्ष का हुआ तो चुनियाँ भी नहीं रही। वह गली-गली भटकता हुआ अनाथों की तरह जीवन जीने को विवश हो गया।

बचपन

भगवान शंकरजी की प्रेरणा से रामशैल पर रहनेवाले श्री अनन्तानन्द जी के प्रिय शिष्य श्रीनरहर्यानन्द जी (नरहरि बाबा) ने इस रामबोला के नाम से बहुचर्चित हो चुके इस बालक को ढूँढ निकाला और विधिवत उसका नाम तुलसीराम रखा। तदुपरान्त वे उसे अयोध्या (उत्तर प्रदेश) ले गये और वहाँ संवत् 1561 माघ शुक्ला पंचमी (शुक्रवार) को उसका यज्ञोपवीत-संस्कार सम्पन्न कराया। संस्कार के समय भी बिना सिखाये ही बालक रामबोला ने गायत्री-मन्त्र का स्पष्ट उच्चारण किया, जिसे देखकर सब लोग चकित हो गये। इसके बाद नरहरि बाबा ने वैष्णवों के पाँच संस्कार करके बालक को राम-मन्त्र की दीक्षा दी और अयोध्या में ही रहकर उसे विद्याध्ययन कराया। बालक रामबोला की बुद्धि बड़ी प्रखर थी। वह एक ही बार में गुरु-मुख से जो सुन लेता, उसे वह कंठस्थ हो जाता। वहाँ से कुछ काल के बाद गुरु-शिष्य दोनों शूकरक्षेत्र (सोरों) पहुँचे। वहाँ नरहरि बाबा ने बालक को राम-कथा सुनायी किन्तु वह उसे भली-भाँति समझ न आयी।

ज्येष्ठ शुक्ल त्रयोदशी, गुरुवार, संवत् 1583 को 29 वर्ष की आयु में राजापुर से थोडी ही दूर यमुना के उस पार स्थित एक गाँव की अति सुन्दरी भारद्वाज गोत्र की कन्या रत्नावली के साथ उनका विवाह हुआ। चूँकि गौना नहीं हुआ था अत: कुछ समय के लिये वे काशी चले गये और वहाँ शेषसनातन जी के पास रहकर वेद-वेदांग के अध्ययन में जुट गये। वहाँ रहते हुए अचानक एक दिन उन्हें अपनी पत्नी की याद आयी और वे व्याकुल होने लगे। जब नहीं रहा गया तो गुरूजी से आज्ञा लेकर वे अपनी जन्मभूमि राजापुर लौट आये। पत्नी रत्नावली चूँकि मायके में ही थी क्योंकि तब तक उनका गौना नहीं हुआ था अत: तुलसीराम ने भयंकर अँधेरी रात में उफनती यमुना नदी तैरकर पार की और सीधे अपनी पत्नी के शयन-कक्ष में जा पहुँचे। रत्नावली इतनी रात गये अपने पति को अकेले आया देख कर आश्चर्यचकित हो गयी। उसने लोक-लाज के भय से जब उन्हें चुपचाप वापस जाने को कहा तो वे उससे उसी समय घर चलने का आग्रह करने लगे। उनकी इस अप्रत्याशित जिद से खीझकर रत्नावली ने स्वरचित एक दोहे के माध्यम से जो शिक्षा उन्हें दी उसने ही तुलसीराम को तुलसीदास बना दिया। रत्नावली ने जो दोहा कहा था वह इस प्रकार है–

अस्थि चर्म मय देह यह, ता सों ऐसी प्रीति!
नेकु जो होती राम से, तो काहे भव-भीत?

यह दोहा सुनते ही उन्होंने उसी समय पत्नी को वहीं उसके पिता के घर छोड़ दिया और वापस अपने गाँव राजापुर लौट गये। राजापुर में अपने घर जाकर जब उन्हें यह पता चला कि उनकी अनुपस्थिति में उनके पिता भी नहीं रहे और पूरा घर नष्ट हो चुका है तो उन्हें और भी अधिक कष्ट हुआ। उन्होंने विधि-विधान पूर्वक अपने पिता जी का श्राद्ध किया और गाँव में ही रहकर लोगों को भगवान राम की कथा सुनाने लगे।

भगवान श्री राम जी से भेंट

कुछ काल राजापुर रहने के बाद वे पुन: काशी चले गये और वहाँ की जनता को राम-कथा सुनाने लगे। कथा के दौरान उन्हें एक दिन मनुष्य के वेष में एक प्रेत मिला, जिसने उन्हें हनुमान जी का पता बतलाया। हनुमान जी से मिलकर तुलसीदास ने उनसे श्रीरघुनाथजी का दर्शन कराने की प्रार्थना की। हनुमान जी ने कहा- "तुम्हें चित्रकूट में रघुनाथजी के दर्शन होंगें।" इस पर तुलसीदास जी चित्रकूट की ओर चल पड़े।

चित्रकूट पहुँच कर उन्होंने रामघाट पर अपना आसन जमाया। एक दिन वे प्रदक्षिणा करने निकले ही थे कि यकायक मार्ग में उन्हें श्रीराम के दर्शन हुए। उन्होंने देखा कि दो बड़े ही सुन्दर राजकुमार घोड़ों पर सवार होकर धनुष-बाण लिये जा रहे हैं। तुलसीदास उन्हें देखकर आकर्षित तो हुए, परन्तु उन्हें पहचान न सके। तभी पीछे से हनुमान जी ने आकर जब उन्हें सारा भेद बताया तो वे पश्चाताप करने लगे। इस पर हनुमान जी ने उन्हें सात्वना दी और कहा प्रातःकाल फिर दर्शन होंगे।

संवत् 1607 की मौनी अमावस्या को बुधवार के दिन उनके सामने भगवान श्रीरामद्यभगवान श्री राम जी पुनः प्रकट हुए। उन्होंने बालक रूप में आकर तुलसीदास से कहा-"बाबा! हमें चन्दन चाहिये क्या आप हमें चन्दन दे सकते हैं?" हनुमान जी ने सोचा, कहीं वे इस बार भी धोखा न खा जायें, इसलिये उन्होंने तोते का रूप धारण करके यह दोहा कहा–

चित्रकूट के घाट पर, भइ सन्तन की भीर।
तुलसिदास चन्दन घिसें, तिलक देत रघुबीर

तुलसीदास भगवान श्री राम जी की उस अद्‌भुत छवि को निहार कर अपने शरीर की सुध-बुध ही भूल गये। अन्ततोगत्वा भगवान ने स्वयं अपने हाथ से चन्दन लेकर अपने तथा तुलसीदास जी के मस्तक पर लगाया और अन्तर्ध्यान हो गये।

संस्कृत में पद्य-रचना

तुलसीदास जी

संवत् 1628 में वह हनुमान जी की आज्ञा लेकर अयोध्या की ओर चल पड़े। उन दिनों प्रयाग में माघ मेला लगा हुआ था। वे वहाँ कुछ दिन के लिये ठहर गये। पर्व के छह दिन बाद एक वटवृक्ष के नीचे उन्हें भारद्वाज और याज्ञवल्क्य मुनि के दर्शन हुए। वहाँ उस समय वही कथा हो रही थी, जो उन्होंने सूकरक्षेत्र में अपने गुरु से सुनी थी। माघ मेला समाप्त होते ही तुलसीदास जी प्रयाग से पुनः वापस काशी आ गये और वहाँ के प्रह्लादघाट पर एक ब्राह्मण के घर निवास किया। वहीं रहते हुए उनके अन्दर कवित्व-शक्ति का प्रस्फुरण हुआ और वे संस्कृत में पद्य-रचना करने लगे। परन्तु दिन में वे जितने पद्य रचते, रात्रि में वे सब लुप्त हो जाते। यह घटना रोज घटती। आठवें दिन तुलसीदास जी को

स्वप्न हुआ। भगवान शंकर ने उन्हें आदेश दिया कि तुम अपनी भाषा में काव्य रचना करो। तुलसीदास जी की नींद उचट गयी। वे उठकर बैठ गये। उसी समय भगवान शिव और पार्वती उनके सामने प्रकट हुए। तुलसीदास जी ने उन्हें साष्टांग प्रणाम किया। इस पर प्रसन्न होकर शिव जी ने कहा- "तुम अयोध्या में जाकर रहो और हिन्दी में काव्य-रचना करो। मेरे आशीर्वाद से तुम्हारी कविता सामवेद के समान फलवती होगी।" इतना कहकर गौरीशंकर अन्तर्धान हो गये। तुलसीदास जी उनकी आज्ञा शिरोधार्य कर काशी से सीधे अयोध्या चले गये।

रामचरितमानस की रचना

संवत् 1631 का प्रारम्भ हुआ। दैवयोग से उस वर्ष रामनवमी के दिन वैसा ही योग आया जैसा त्रेतायुग में राम-जन्म के दिन था। उस दिन प्रातःकाल तुलसीदास जी ने श्रीरामचरितमानस की रचना प्रारम्भ की। दो वर्ष, सात महीने और छ्ब्बीस दिन में यह अद्‌भुत ग्रन्थ सम्पन्न हुआ। संवत् 1633 के मार्गशीर्ष शुक्लपक्ष में राम-विवाह के दिन सातों काण्ड पूर्ण हो गये।

इसके बाद भगवान की आज्ञा से तुलसीदास जी काशी चले आये। वहाँ उन्होंने भगवान विश्वनाथ और माता अन्नपूर्णा को श्रीरामचरितमानस सुनाया। रात को पुस्तक विश्वनाथ-मन्दिर में रख दी गयी। प्रातःकाल जब मन्दिर के पट खोले गये तो पुस्तक पर लिखा हुआ पाया गया-सत्यं शिवं सुन्दरम् जिसके नीचे भगवान शंकर की सही (पुष्टि) थी। उस समय वहाँ उपस्थित लोगों ने "सत्यं शिवं सुन्दरम्" की आवाज भी कानों से सुनी।

इधर काशी के पण्डितों को जब यह बात पता चली तो उनके मन में ईर्ष्या उत्पन्न हुई। वे दल बनाकर तुलसीदास जी की निन्दा और उस पुस्तक को नष्ट करने का प्रयत्न करने लगे। उन्होंने पुस्तक चुराने के लिये दो चोर भी भेजे। चोरों ने जाकर देखा कि तुलसीदास जी की कुटी के आसपास दो युवक धनुषबाण लिये पहरा दे रहे हैं। दोनों युवक बड़े ही सुन्दर क्रमशः श्याम और गौर वर्ण के थे। उनके दर्शन करते ही चोरों की बुद्धि शुद्ध हो गयी। उन्होंने उसी समय से चोरी करना छोड़ दिया और भगवान के भजन में लग गये। तुलसीदास जी ने अपने लिये भगवान को कष्ट हुआ जान कुटी का सारा समान लुटा दिया और पुस्तक अपने मित्र टोडरमल (अकबर के नौरत्नों में एक) के यहाँ रखवा दी। इसके बाद उन्होंने अपनी विलक्षण स्मरण शक्ति से एक-दूसरी प्रति लिखी। उसी के आधार पर दूसरी प्रतिलिपियाँ तैयार की गयीं और पुस्तक का प्रचार दिनों-दिन बढ़ने लगा।

इधर काशी के पण्डितों ने और कोई उपाय न देख श्री मधुसूदन सरस्वती नाम के महापण्डित को उस पुस्तक को देखकर अपनी सम्मति देने की प्रार्थना की। मधुसूदन सरस्वती जी ने उसे देखकर बड़ी प्रसन्नता प्रकट की और उस पर अपनी ओर से यह टिप्पणी लिख दी-

आनन्दकानने ह्यास्मिंजंगमस्तुलसीतरुः।
कवितामंजरी भाति रामभ्रमरभूषिता

इसका हिन्दी में अर्थ इस प्रकार है-"काशी के आनन्द-वन में तुलसीदास साक्षात तुलसी का पौधा है। उसकी काव्य-मंजरी बड़ी ही मनोहर है, जिस पर श्रीराम रूपी भँवरा सदा मँडराता रहता है।"

पण्डितों को उनकी इस टिप्पणी पर भी संतोष नहीं हुआ। तब पुस्तक की परीक्षा का एक अन्य उपाय सोचा गया। काशी के विश्वनाथ-मन्दिर में भगवान विश्वनाथ के सामने सबसे ऊपर वेद, उनके नीचे शास्त्र, शास्त्रों के नीचे पुराण और सबके नीचे रामचरितमानस रख दिया गया। प्रातःकाल जब मन्दिर खोला गया तो लोगों ने देखा कि श्रीरामचरितमानस वेदों के ऊपर रखा हुआ है। अब तो सभी पण्डित बड़े लज्जित हुए। उन्होंने तुलसीदास जी से क्षमा माँगी और भक्ति-भाव से उनका चरणोदक लिया।

मृत्यु

तुलसीदास जी जब काशी के विख्यात् घाट असीघाट पर रहने लगे तो एक रात कलियुग मूर्त रूप धारण कर उनके पास आया और उन्हें पीड़ा पहुँचाने लगा। तुलसीदास जी ने उसी समय हनुमान जी का ध्यान किया। हनुमान जी ने साक्षात् प्रकट होकर उन्हें प्रार्थना के पद रचने को कहा, इसके पश्चात् उन्होंने अपनी अन्तिम कृति विनय-पत्रिका लिखी और उसे भगवान के चरणों में समर्पित कर दिया। श्रीराम जी ने उस पर स्वयं अपने हस्ताक्षर कर दिये और तुलसीदास जी को निर्भय कर दिया।

संवत् 1680 में श्रावण कृष्ण तृतीया शनिवार को तुलसीदास जी ने "राम-राम" कहते हुए अपना शरीर परित्याग किया।

तुलसी-स्तवन

तुलसीदास जी की हस्तलिपि अत्यधिक सुन्दर थी लगता है जैसे उस युग में उन्होंने कैलोग्राफी की कला आती थी। उनके जन्म-स्थान राजापुर के एक मन्दिर में श्रीरामचरितमानस के अयोध्याकाण्ड की एक प्रति सुरक्षित रखी हुई है।

रचनाएँ

अपने 126 वर्ष के दीर्घ जीवन-काल में तुलसीदास ने कालक्रमानुसार निम्नलिखित कालजयी ग्रन्थों की रचनाएँ कीं -

रामललानहछू, वैराग्यसंदीपनी, रामाज्ञाप्रश्न, जानकी-मंगल, रामचरितमानस, सतसई, पार्वती-मंगल, गीतावली, विनय-पत्रिका, कृष्ण-गीतावली, बरवै रामायण, दोहावली और कवितावली।

इनमें से रामचरितमानस, विनय-पत्रिका, कवितावली, गीतावली जैसी कृतियों के विषय में किसी कवि की यह आर्षवाणी सटीक प्रतीत होती है - पश्य देवस्य काव्यं, न मृणोति न जीर्यति। अर्थात देवपुरुषों का काव्य देखिये जो न मरता न पुराना होता है।

लगभग चार सौ वर्ष पूर्व तुलसीदास जी ने अपनी कृतियों की रचना की थी। आधुनिक प्रकाशन-सुविधाओं से रहित उस काल में भी तुलसीदास का काव्य जन-जन तक पहुँच चुका था। यह उनके कवि रूप में लोकप्रिय होने का प्रत्यक्ष प्रमाण है। मानस जैसे वृहद् ग्रन्थ को कण्ठस्थ करके सामान्य पढ़े लिखे लोग भी अपनी शुचिता एवं ज्ञान के लिए प्रसिद्ध होने लगे थे।

रामचरितमानस तुलसीदास जी का सर्वाधिक लोकप्रिय ग्रन्थ रहा है। उन्होंने अपनी रचनाओं के सम्बन्ध में कहीं कोई उल्लेख नहीं किया है, इसलिए प्रामाणिक रचनाओं के सम्बन्ध में अन्तःसाक्ष्य का अभाव दिखायी देता है। नागरी प्रचारिणी सभा काशी द्वारा प्रकाशित ग्रन्थ इस प्रकार हैं–

- रामचरितमानस
- रामललानहछू
- वैराग्य-संदीपनी
- बरवै रामायण
- पार्वती-मंगल
- जानकी-मंगल
- रामाज्ञाप्रश्न
- दोहावली
- कवितावली
- गीतावली
- श्रीकृष्ण-गीतावली
- विनय-पत्रिका

- सतसई
- छंदावली रामायण
- कुंडलिया रामायण
- राम शलाका
- संकट मोचन
- करखा रामायण
- रोला रामायण
- झूलना
- छप्पय रामायण
- कवित्त रामायण
- कलिधर्माधर्म निरूपण
- हनुमान चालीसा
- 'एनसाइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन एंड एथिक्स' में ग्रियर्सन ने भी उपरोक्त प्रथम बारह ग्रन्थों का उल्लेख किया है।
- कुछ ग्रंथों का संक्षिप्त विवरण

रामललानहछू

यह संस्कार गीत है। इस गीत में कतिपय उल्लेख राम-विवाह की कथा से भिन्न हैं।

गोद लिहैं कौशल्या बैठि रामहिं वर हो।
सोभित दूलह राम सीस, पर आंचर हो॥

वैराग्य संदीपनी

वैराग्य संदीपनी को माताप्रसाद गुप्त ने अप्रामाणिक माना है, पर आचार्य चंद्रवली पांडे इसे प्रामाणिक और तुलसी की आरंभिक रचना मानते हैं। कुछ और प्राचीन प्रतियों के उपलब्ध होने से ठोस प्रमाण मिल सकते हैं। संत महिमा वर्णन का पहला सोरठा पेश है -

को बरनै मुख एक, तुलसी महिमा संत।
जिन्हके विमल विवेक, सेष महेस न कहि सकत॥

बरवै रामायण

विद्वानों ने इसे तुलसी की रचना घोषित किया है। शैली की दृष्टि से यह तुलसीदास की प्रामाणिक रचना है। इसकी खंडित प्रति ही ग्रंथावली में संपादित है।

पार्वती-मंगल

यह तुलसी की प्रामाणिक रचना प्रतीत होती है। इसकी काव्यात्मक प्रौढ़ता तुलसी सिद्धांत के अनुकूल है। कविता सरल, सुबोध रोचक और सरस है। "जगत मातु पितु संभु भवानी" की श्रृंगारिक चेष्टाओं का तनिक भी पुट नहीं है। लोक रीति इतनी यथास्थिति से चित्रित हुई है कि यह संस्कृत के शिव काव्य से कम प्रभावित है और तुलसी की मति की भक्त्यात्मक भूमिका पर विरचित कथा काव्य है। व्यवहारों की सुष्ठुता, प्रेम की अनन्यता और वैवाहिक कार्यक्रम की सरसता को बड़ी सावधानी से कवि ने अंकित किया है। तुलसीदास अपनी इस रचना से अत्यन्त संतुष्ट थे, इसीलिए इस अनासक्त भक्त ने केवल एक बार अपनी मति की सराहना की है -

प्रेम पाट पटडोरि गौरि-हर-गुन मनि।
मंगल हार रचेउ कवि मति मृगलोचनि॥

जानकी-मंगल

विद्वानों ने इसे तुलसीदास की प्रामाणिक रचनाओं में स्थान दिया है। पर इसमें भी क्षेपक है।

पंथ मिले भृगुनाथ हाथ फरसा लिए।
डाँटहि आँखि देखाइ कोप दारुन किए॥
राम कीन्ह परितोष रोस रिस परिहरि।
चले सौंपि सारंग सुफल लोचन करि॥
रघुबर भुजबल देख उछाह बरातिन्ह।
मुदित राउ लखि सन्मुख विधि सब भाँतिन्ह॥

तुलसी के मानस के पूर्व वाल्मीकीय रामायण की कथा ही लोक प्रचलित थी। काशी के पंडितों से मानस को लेकर तुलसीदास का मतभेद और मानस की प्रति पर विश्वनाथ का हस्ताक्षर संबंधी जनश्रुति प्रसिद्ध है।

रामाज्ञा प्रश्न

यह ज्योतिष शास्त्रीय पद्धति का ग्रंथ है। दोहों, सप्तकों और सर्गों में विभक्त यह ग्रंथ रामकथा के विविध मंगल एवं अमंगलमय प्रसंगों की मिश्रित रचना है। काव्य की दृष्टि से इस ग्रंथ का महत्त्व नगण्य है। सभी इसे तुलसीकृत मानते हैं। इसमें कथा- शृंखला का अभाव है और वाल्मीकीय रामायण के प्रसंगों का अनुवाद अनेक दोहों में है।

दोहावली

दोहावली में अधिकांश दोहे मानस के हैं। कवि ने चातक के व्याज से दोहों की एक लंबी शृंखला लिखकर भक्ति और प्रेम की व्याख्या की है। दोहावली दोहा संकलन है। मानस के भी कुछ कथा निरपेक्ष दोहों को इसमें स्थान है। संभव है कुछ दोहे इसमें भी प्रक्षिप्त हों, पर रचना की अप्रामाणिकता असंदिग्ध है।

कवितावली

कवितावली तुलसीदास की रचना है, पर सभा संस्करण अथवा अन्य संस्करणों में प्रकाशित यह रचना पूरी नहीं प्रतीत होती है। कवितावली एक प्रबंध रचना है। कथानक में अप्रासंगिकता एवं शिथिलता तुलसी की कला का कलंक कहा जायेगा।

गीतावली

गीतावली में गीतों का आधार विविध कांड का रामचरित ही रहा है। यह ग्रंथ रामचरितमानस की तरह व्यापक जनसम्पर्क में कम गया प्रतीत होता है। इसलिए इन गीतों में परिवर्तन-परिवर्द्धन दृष्टिगत नहीं होता है। गीतावली में गीतों के कथा - संदर्भ तुलसी की मति के अनुरूप हैं। इस दृष्टि से गीतावली का एक गीत लिया जा सकता है -

कैकेयी जौ लौं जियत रही।
तौ लौं बात मातु सों मुह भरि भरत न भूलि कही॥
मानी राम अधिक जननी ते जननिहु गँसन गही।
सीय लखन रिपुदवन राम-रुख लखि सबकी निबही॥
लोक-बेद-मरजाद दोष गुन गति चित चखन चही।
तुलसी भरत समुझि सुनि राखी राम सनेह सही॥

इसमें भरत और राम के शील का उत्कर्ष तुलसीदास ने व्यक्त किया है। गीतावली के उत्तरकांड में मानस की कथा से अधिक विस्तार है। इसमें सीता का वाल्मीकि आश्रम में भेजा जाना वर्णित है। इस परित्याग का औचित्य निर्देश इन पंक्तियों में मिलता है–

भोग पुनि पितु-आयु को, सोउ किए बनै बनाउ।
परिहरे बिनु जानकी नहीं और अनघ उपाउ॥
पालिबे असिधार-ब्रत प्रिय प्रेम-पाल सुभाउ।
होइ हित केहि भांति, नित सुविचारु नहिं चित चाउ॥

श्रीकृष्ण गीतावली

श्रीकृष्ण गीतावली भी गोस्वामीजी की रचना है। श्रीकृष्ण-कथा के कतिपय प्रकरण गीतों के विषय हैं।

हनुमानबाहुक

यह गोस्वामी जी की हनुमत-भक्ति संबंधी रचना है। पर यह एक स्वतंत्र रचना है। इसके सभी अंश प्रामाणिक प्रतीत होते हैं।

तुलसीदास को राम प्यारे थे, राम की कथा प्यारी थी, राम का रूप प्यारा था और राम का स्वरूप प्यारा था। उनकी बुद्धि, राग, कल्पना और भावुकता पर राम की मर्यादा और लीला का आधिपत्य था। उनकी आंखों में राम की छवि बसती थी। सब कुछ राम की पावन लीला में व्यक्त हुआ है जो रामकाव्य की परम्परा की उच्चतम उपलब्धि है। निर्दिष्ट ग्रंथों में इसका एक रस प्रतिबिंब है।

तुलसीदास के जीवन की ऐतिहासिक घटनाएं

तुलसीदास के जीवन की कुछ घटनाएं एवं तिथियां भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। कवि के जीवन-वृत्त और महिमामय व्यक्तित्व पर उनसे प्रकाश पड़ता है।

यज्ञोपवीत

मूल गोसाईं चरित के अनुसार तुलसीदास का यज्ञोपवीत माघ शुक्ला पंचमी सं. 1561 में हुआ –

पन्द्रह सै इकसठ माघसुदी। तिथि पंचमि औ भृगुवार उदी।
सरजू तट विप्रन जग्य किए। द्विज बालक कहं उपबीत किए॥

कवि के माता - पिता की मृत्यु कवि के बाल्यकाल में ही हो गई थी।

विवाह

जनश्रुतियों एवं रामायणियों के विश्वास के अनुसार तुलसीदास विरक्त होने के पूर्व भी कथा-वाचन करते थे। युवक कथावाचक की विलक्षण प्रतिभा और दिव्य भगवद्भक्ति से प्रभावित होकर रत्नावली के पिता पं. दीन बंधु पाठक ने एक दिन, कथा के अन्त में, श्रोताओं के विदा हो जाने पर, अपनी बारह वर्षीया कन्या उसके चरणों में सौंप दी। मूल गोसाईं चरित के अनुसार रत्नावली के साथ युवक तुलसी का यह वैवाहिक सूत्र सं. 1583 की ज्येष्ठ शुक्ला त्रयोदशी, दिन गुरुवार को जुड़ा था -

पंद्रह सै पार तिरासी विषै।
सुभ जेठ सुदी गुरु तेरसि पै।
अधिराति लगै जु फिरै भंवरी।
दुलहा दुलही की परी पंवरी।।

आराध्य-दर्शन

भक्त शिरोमणि तुलसीदास को अपने आराध्य के दर्शन भी हुए थे। उनके जीवन के वे सर्वोत्तम और महत्तम क्षण रहे होंगे। लोक-श्रुतियों के अनुसार तुलसीदास को आराध्य के दर्शन चित्रकूट में हुए थे। आराध्य युगल राम - लक्ष्मण को उन्होंने तिलक भी लगाया था -

चित्रकूट के घाट पै, भई संतन के भीर।
तुलसीदास चंदन घिसै, तिलक देत रघुबीर।।

मूल गोसाईं चरित के अनुसार कवि के जीवन की वह पवित्रतम तिथि माघ अमावस्या (बुधवार), सं. 1607 को बताया गया है।

सुखद अमावस मौनिया, बुध सोरह सै सात।
जा बैठे तिसु घाट पै, विरही होतहि प्रात।।

गोस्वामी तुलसीदास के महिमान्वित व्यक्तित्व और गरिमान्वित साधना को ज्योतित करने वाली एक और घटना का उल्लेख मूल गोसाईं चरित में किया गया है। तुलसीदास नंददास से मिलने बृंदावन पहुंचे। नंददास उन्हें कृष्ण मंदिर में ले गए। तुलसीदास अपने आराध्य के अनन्य भक्त थे। तुलसीदास राम और कृष्ण की तात्त्विक एकता स्वीकार करते हुए भी राम-रूप श्यामघन पर मोहित होने वाले

चातक थे। अत: घनश्याम कृष्ण के समक्ष नतमस्तक कैसे होते। उनका भाव-विभोर कवि का कण्ठ मुखर हो उठा -

कहा कहौं छवि आज की, भले बने हो नाथ।
तुलसी मस्तक तब नवै, जब धनुष बान लो हाथ॥

इतिहास साक्षी दे या नहीं दे, किन्तु लोक-श्रुति साक्षी देती है कि कृष्ण की मूर्ति राम की मूर्ति में बदल गई थी।

रत्नावली का महाप्रस्थान

रत्नावली का बैकुंठगमन 'मूल गोसाईं चरित' के अनुसार सं. 1589 में हुआ। किंतु राजापुर की सामग्रियों से उसके दीर्घ जीवन का समर्थन होता है।

मीराबाई का पत्र

महात्मा बेनी माधव दास ने मूल गोसाईं चरित में मीराबाई और तुलसीदास के पत्रचार का उल्लेख किया किया है। अपने परिवार वालों से तंग आकर मीराबाई ने तुलसीदास को पत्र लिखा। मीराबाई पत्र के द्वारा तुलसीदास से दीक्षा ग्रहण करनी चाही थी। मीरा के पत्र के उत्तर में विनयपत्रिका का निम्नांकित पद की रचना की गई।

जाके प्रिय न राम वैदेही
तजिए ताहि कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही।
सो छोड़िये
तज्यो पिता प्रहलाद, विभीषन बंधु, भरत महतारी।
बलिगुरु तज्यो कंत ब्रजबनितन्हि, भये मुद मंगलकारी।
नाते नेह राम के मनियत सुहृद सुसेव्य जहां लौं।
अंजन कहां आंखि जेहि फूटै, बहुतक कहौं कहां लौं।
तुलसी सो सब भांति परमहित पूज्य प्रान ते प्यारो।
जासों हाय सनेह राम-पद, एतोमतो हमारो॥

तुलसीदास ने मीराबाई को भक्ति-पथ के बाधकों के परित्याग का परामर्श दिया था।

केशवदास से संबद्ध घटना

मूल गोसाईं चरित के अनुसार केशवदास गोस्वामी तुलसीदास से मिलने काशी आए थे। उचित सम्मान न पा सकने के कारण वे लौट गए।

अकबर के दरबार में बंदी बनाया जाना

तुलसीदास की ख्याति से अभिभूत होकर अकबर ने तुलसीदास को अपने दरबार में बुलाया और कोई चमत्कार प्रदर्शित करने को कहा। यह प्रदर्शन-प्रियता तुलसीदास की प्रकृति और प्रवृत्ति के प्रतिकूल थी, अतः ऐसा करने से उन्होंने इनकार कर दिया। इस पर अकबर ने उन्हें बंदी बना लिया। तदुपरांत राजधानी और राजमहल में बंदरों का अभूतपूर्व एवं अद्‌भुत उपद्रव शुरू हो गया। अकबर को बताया गया कि यह हनुमान जी का क्रोध है। अकबर को विवश होकर तुलसीदास को मुक्त कर देना पड़ा।

जहांगीर को तुलसी-दर्शन

जिस समय वे अनेक विरोधों का सामना कर सफलताओं और उपलब्धियों के सर्वोच्च शिखर का स्पर्श कर रहे थे, उसी समय दर्शनार्थ जहांगीर के आने का उल्लेख किया गया मिलता है।

दांपत्य जीवन

सुखद दांपत्य जीवन का आधार अर्थ प्राचुर्य नहीं, पति -पत्नि का पारस्परिक प्रेम, विश्वास और सहयोग होता है। तुलसीदास का दांपत्य जीवन आर्थिक विपन्नता के बावजूद संतुष्ट और सुखी था। भक्तमाल के प्रियादास की टीका से पता चलता है कि जीवन के वसंत काल में तुलसी पत्नी के प्रेम में सराबोर थे। पत्नी का वियोग उनके लिए असह्य था। उनकी पत्नी-निष्ठा दिव्यता को उल्लंघित कर वासना और आसक्ति की ओर उन्मुख हो गई थी।

रत्नावली के मायके चले जाने पर शव के सहारे नदी को पार करना और सांप के सहारे दीवाल को लांघकर अपने पत्नी के निकट पहुंचना। पत्नी की फटकार ने भोगी को जोगी, आसक्त को अनासक्त, गृहस्थ को सन्यासी और भांग को भी तुलसीदल बना दिया। वासना और आसक्ति के चरम सीमा पर आते ही उन्हें दूसरा लोक दिखाई पड़ने लगा। इसी लोक में उन्हें मानस और विनयपत्रिका जैसी उत्कृष्टतम रचनाओं की प्रेरणा और शिक्षा मिली।

वैराग्य की प्रेरणा

तुलसीदास के वैराग्य ग्रहण करने के दो कारण हो सकते हैं। प्रथम, अतिशय आसक्ति और वासना की प्रतिक्रिया ओर दूसरा, आर्थिक विपन्नता। पत्नी

की फटकार ने उनके मन के समस्त विकारों को दूर कर दिया। दूसरे कारण विनयपत्रिका के निम्नांकित पदांशों से प्रतीत होता है कि आर्थिक संकटों से परेशान तुलसीदास को देखकर सन्तों ने भगवान राम की शरण में जाने का परामर्श दिया –

दुखित देखि संतन कह्यो, सोचौ जनि मन मोहूं
तो से पसु पातकी परिहरे न सरन गए रघुबर ओर निबाहूं।।
तुलसी तिहारो भये भयो सुखी प्रीति-प्रतीति विनाहू।
नाम की महिमा, सीलनाथ को, मेरो भलो बिलोकि, अबतें।।

रत्नावली ने भी कहा था कि इस अस्थि – चर्ममय देह में जैसी प्रीति है, ऐसी ही प्रीति अगर भगवान राम में होती तो भव-भीति मिट जाती। इसीलिए वैराग्य की मूल प्रेरणा भगवदाराधन ही है।

तुलसी का निवास - स्थान

विरक्त हो जाने के उपरांत तुलसीदास ने काशी को अपना मूल निवास-स्थान बनाया। वाराणसी के तुलसीघाट, घाट पर स्थित तुलसीदास द्वारा स्थापित अखाड़ा, मानस और विनयपत्रिका के प्रणयन-कक्ष, तुलसीदास द्वारा प्रयुक्त होने वाली नाव के शेषांग, मानस की 1704 ई. की पांडुलिपि, तुलसीदास की चरण-पादुकाएं आदि से पता चलता है कि तुलसीदास के जीवन का सर्वाधिक समय यहीं बीता। काशी के बाद कदाचित् सबसे अधिक दिनों तक अपने आराध्य की जन्मभूमि अयोध्या में रहे। मानस के कुछ अंश का अयोध्या में रचा जाना इस तथ्य का पुष्कल प्रमाण है।

तीर्थाटन के क्रम में वे प्रयाग, चित्रकूट, हरिद्वार आदि भी गए। बालकांड के "दधि चिउरा उपहार अपारा। भरि-भरि कांवर चले कहारा" तथा "सूखत धान परा जनु पानी" से उनका मिथिला-प्रवास भी सिद्ध होता है। धान की खेती के लिए भी मिथिला ही प्राचीन काल से प्रसिद्ध रही है। धान और पानी का संबंध-ज्ञान बिना मिथिला में रहे तुलसीदास कदाचित् व्यक्त नहीं करते। इससे भी साबित होता है कि वे मिथिला में रहे।

विरोध और सम्मान

जनश्रुतियों और अनेक ग्रंथों से पता चलता है कि तुलसीदास को काशी के कुछ अनुदार पंडितों के प्रबल विरोध का सामना करना पड़ा था। उन पंडितों

ने रामचरितमानस की पांडुलिपि को नष्ट करने और हमारे कवि के जीवन पर संकट ढालने के भी प्रयास किए थे। जनश्रुतियों से यह भी पता चलता है कि रामचरितमानस की विमलता और उदात्तता के लिए विश्वनाथ जी के मन्दिर में उसकी पांडुलिपि रखी गई थीं और भगवान विश्वनाथ का समर्थन मानस को मिला था। अन्ततः, विरोधियों को तुलसी के सामने नतमस्तक होना पड़ा था। विरोधों का शमन होते ही कवि का सम्मान दिव्य-गंध की तरह बढ़ने और फैलने लगा। कवि के बढ़ते हुए सम्मान का साक्ष्य कवितावली की निम्नांकित पंक्तियां भी देती हैं–

जाति के सुजाति के कुजाति के पेटागिबस
खाए टूक सबके विदित बात दुनी सो।
मानस वचनकाय किए पाप सति भाय
राम को कहाय दास दगाबाज पुनी सो।
राम नाम को प्रभाउ पाउ महिमा प्रताप
तुलसी से जग मानियत महामुनी सो।
अति ही अभागो अनुरागत न राम पद
मूढ़ एतो बढ़ो अचरज देखि सुनी सो।।
(कवितावली, उत्तर, 72)

तुलसी अपने जीवन-काल में ही वाल्मीकि के अवतार माने जाने लगे थे–

त्रोता काव्य निबंध करिव सत कोटि रमायन।
इक अच्छर उच्चरे ब्रह्महत्यादि परायन।।
पुनि भक्तन सुख देन बहुरि लीला विस्तारी।
राम चरण रस मत्त रहत अहनिसि व्रतधारी।
संसार अपार के पार को सगुन रूप नौका लिए।
कलि कुटिल जीव निस्तार हित बालमीकि तुलसी भए।।
(भक्तमाल, छप्पय 129)

पं. रामनरेश त्रिपाठी ने काशी के सुप्रसिद्ध विद्वान और दार्शनिक श्री मधुसूदन सरस्वती को तुलसीदास का समसामयिक बताया है। उनके साथ उनके वादविवाद का उल्लेख किया है और मानस तथा तुलसी की प्रशंसा में लिखा उनका श्लोक भी उद्घृत किया है। उस श्लोक से भी तुलसीदास की प्रशस्ति का पता मालूम होता है।

आनन्दकाननेह्यस्मिन् जंगमस्तुलसीतः–
कविता मंजरी यस्य, राम–भ्रमर भूषिता।

जीवन की सांध्यबेला

तुलसीदास को जीवन की सांध्यबेला में अतिशय शारीरिक कष्ट हुआ था। तुलसीदास बाहु की पीड़ा से व्यथित हो उठे तो असहाय बालक की भांति आराध्य को पुकारने लगे थे।

घेरि लियो रोगनि कुजोगनि कुलोगनि ज्यौं,
बासर जलद घन घटा धुकि धाई है।
बरसत बारि पोर जारिये जवासे जस,
रोष बिनु दोष, धूम–मूलमलिनाई है।।
करुनानिधान हनुमान महा बलबान,
हेरि हैसि हांकि फूंकि फौजें तै उड़ाई है।
खाए हुतो तुलसी कुरोग राढ़ राकसनि,
केसरी किसोर राखे बीर बरिआई है।
(हनुमान बाहुक, 35)

निम्नांकित पद से तीव्र पीड़ानुभूति और उसके कारण शरीर की दुर्दशा का पता चलता हैं –

पायेंपीर पेटपीर बांहपीर मुंहपीर
जर्जर सकल सरी पीर मई है।
देव भूत पितर करम खल काल ग्रह,
मोहि पर दवरि दमानक सी दई है।।
हौं तो बिन मोल के बिकानो बलि बारे हीं तें,
ओट राम नाम की ललाट लिखि लई है।
कुंभज के निकट बिकल बूड़े गोखुरनि,
हाय राम रा ऐरती हाल कहुं भई है।।

दोहावली के तीन दोहों में बाहु–पीड़ा की अनुभूति –

तुलसी तनु सर सुखजलज, भुजरुज गज बर जोर।
दलत दयानिधि देखिए, कपिकेसरी किसोर।।
भुज तरु कोटर रोग अहि, बरबस कियो प्रबेस।
बिहगराज बाहन तुरत, काढिअ मिटे कलेस।।

बाहु विटप सुख विहंग थलु, लगी कुपीर कुआगि।
राम कृपा जल सींचिए, बेगि दीन हित लागि।।

आजीवन काशी में भगवान विश्वनाथ का राम कथा का सुधापान कराते-कराते असी गंग के तीर पर सं. 1680 की श्रावण शुक्ला सप्तमी के दिन तुलसीदास पांच भौतिक शरीर का परित्याग कर शाश्वत यश:शरीर में प्रवेश कर गए।

तुलसीदास की रचनाएँ

अपने दीर्घ जीवन-काल में तुलसीदास ने कालक्रमानुसार निम्नलिखित काल जयी ग्रन्थों की रचनाएं कीं - रामललानहछू, वैराग्यसंदीपनी, रामाज्ञाप्रश्न, जानकी-मंगल, रामचरितमानस, सतसई, पार्वती-मंगल, गीतावली, विनय-पत्रिका, कृष्ण-गीतावली, बरवै रामायण, दोहावली और कवितावली (बाहुक सहित)। इनमें से रामचरितमानस, विनयपत्रिका, कवितावली, गीतावली जैसी कृतियों के विषय में यह आर्षवाणी सही घटित होती है - "पश्य देवस्य काव्यं, न ममार न जीर्यति।"

रामचरितमानस

रामचरितमानस (अंग्रेजी: Ramcharitmanas) तुलसीदास की सबसे प्रमुख कृति है। इसकी रचना संवत 1631 ई. की रामनवमी को अयोध्या में प्रारम्भ हुई थी किन्तु इसका कुछ अंश काशी (वाराणसी) में भी निर्मित हुआ था, यह इसके किष्किन्धा काण्ड के प्रारम्भ में आने वाले एक सोरठे से निकलती है, उसमें काशी सेवन का उल्लेख है। इसकी समाप्ति संवत 1633 ई. की मार्गशीर्ष, शुक्ल 5, रविवार को हुई थी किन्तु उक्त तिथि गणना से शुद्ध नहीं ठहरती, इसलिए विश्वसनीय नहीं कही जा सकती। यह रचना अवधी बोली में लिखी गयी है। इसके मुख्य छन्द चौपाई और दोहा हैं, बीच-बीच में कुछ अन्य प्रकार के भी छन्दों का प्रयोग हुआ है। प्राय: 8 या अधिक अर्द्धलियों के बाद दोहा होता है और इन दोहों के साथ कड़वक संख्या दी गयी है। इस प्रकार के समस्त कड़वकों की संख्या 1074 है।

विशेष नोट- सम्पूर्ण रामचरितमानस पढ़ें

रामचरितमानस चरित-काव्य

'रामचरितमानस' एक चरित-काव्य है, जिसमें राम का सम्पूर्ण जीवन-चरित वर्णित हुआ है। इसमें 'चरित' और 'काव्य' दोनों के गुण समान रूप से मिलते हैं। इस काव्य के चरितनायक कवि के आराध्य भी हैं, इसलिए वह 'चरित' और 'काव्य' होने के साथ-साथ कवि की भक्ति का प्रतीक भी है। रचना के इन तीनों रूपों में उसका विवरण इस प्रकार है-

संक्षिप्त कथा

'रामचरितमानस' की कथा संक्षेप में इस प्रकार है-

दक्षों से लंका को जीतकर राक्षसराज रावण वहाँ राज्य करने लगा। उसके अनाचारों-अत्याचारों से पृथ्वी त्रस्त हो गयी और वह देवताओं की शरण में गयी। इन सब ने मिलकर हरि की स्तुति की, जिसके उत्तर में आकाशवाणी हुई कि हरि दशरथ-कौशल्या के पुत्र राम के रूप में अयोध्या में अवतार ग्रहण करेंगे और राक्षसों का नाश कर भूमि-भार हरण करेंगे। इस आश्वासन के अनुसार चैत्र के शुक्ल पक्ष की नवमी को हरि ने कौशल्या के पुत्र के रूप में अवतार धारण किया। दशरथ की दो रानियाँ और थीं- कैकेयी और सुमित्रा। उनसे दशरथ के तीन और पुत्रों-भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न ने जन्म ग्रहण किया।

गोस्वामी तुलसीदास

विश्वामित्र के आश्रम में राम

इस समय राक्षसों का अत्याचार उत्तर भारत में भी कुछ क्षेत्रों में प्रारम्भ हो गया था, जिसके कारण मुनि विश्वामित्र यज्ञ नहीं कर पा रहे थे। उन्हें जब यह ज्ञात हुआ कि दशरथ के पुत्र राम के रूप में हरि अवतरित हुए हैं, वे अयोध्या आये और जब राम बालक ही थे, उन्होंने राक्षसों के दमन के लिए दशरथ से राम की याचना की। राम तथा लक्ष्मण की सहायता से उन्होंने अपना यज्ञ पूरा किया। इन उपद्रवकारी राक्षसों में से एक सुबाहु था, जो मारा गया और दूसरा मारीच था, जो राम के बाणों से आहत होकर सौ योजन की दूरी पर समुद्र के पार चला गया। जिस समय राम-लक्ष्मण विश्वामित्र के आश्रम में रह रहे थे, मिथिला में धनुर्यज्ञ का आयोजन किया गया था, जिसके लिए मुनि को निमन्त्रण प्राप्त हुआ। अतः मुनि राम-लक्ष्मण को लेकर मिथिला गये। मिथिला के राजा जनक ने देश-विदेश के समस्त राजाओं को अपनी पुत्री सीता के स्वयंवर हेतु

आमन्त्रित किया था। रावण और बाणासुर जैसे बलशाली राक्षस नरेश भी इस आमन्त्रण पर वहाँ गये थे किंतु अपने को इस कार्य के लिए असमर्थ मानकर लौट चुके थे। दूसरे राजाओं ने सम्मिलित होकर भी इसे तोड़ने का प्रयत्न किया, किन्तु वे अकृत कार्य रहे। राम ने इसे सहज ही तोड़ दिया और सीता का वरण किया। विवाह के अवसर पर अयोध्या निमन्त्रण भेजा गया। दशरथ अपने शेष पुत्रों के साथ बारात लेकर मिथिला आये और विवाह के अनन्तर अपने चारों पुत्रों को लेकर अयोध्या लौटे।

कैकेयी और कोपभवन

दशरथ की अवस्था धीरे-धीरे ढलने लगी थी, इसलिए उन्होंने राम को अपना युवराज पद देना चाहा। संयोग से इस समय कैकेयी-पुत्र भरत सुमित्र-पुत्र शत्रुघ्न के साथ ननिहाल गये हुए थे। कैकेयी की एक दासी मन्थरा को जब यह समाचार ज्ञात हुआ, उसने कैकेयी को सुनाया। पहले तो कैकेयी ने यह कहकर उसका अनुमोदन किया कि पिता के अनेक पुत्रों में से ज्येष्ठ पुत्र ही राज्य का अधिकारी होता है, यह उसके राजकुल की परम्परा है किन्तु मन्थरा के यह सुझाने पर कि भरत की अनुपस्थिति में जो यह आयोजन किया जा रहा है, उसमें कोई दुरभि-सन्धि है, कैकेयी ने उस आयोजन को विफल बनाने का निश्चय किया और कोप भवन में चली गयी। तदनन्तर उसने दशरथ से, उनके मनाने पर, दो वर देने के लिए वचन, एक से राम के लिए 14 वर्षों का वनवास और दूसरे से भरत के लिए युवराज पद माँग लिये। इनमें से प्रथम वचन के अनुसार राम ने वन के लिए प्रस्थान किया तो उनके साथ सीता और लक्ष्मण ने भी वन के लिए प्रस्थान किया।

कुछ ही दिनों बाद जब दशरथ ने राम के विरह में शरीर त्याग दिया, भरत ननिहाल से बुलाये गये और उन्हें अयोध्या का सिंहासन दिया गया, किन्तु भरत ने उसे स्वीकार नहीं किया और वे राम को वापस लाने के लिए चित्रकूट जा पहुँचे, जहाँ उस समय राम निवास कर रहे थे किन्तु राम ने लौटना स्वीकार न किया। भरत के अनुरोध पर उन्होंने अपनी चरण-पादुकाएँ उन्हें दे दीं, जिन्हें अयोध्या लाकर भरत ने सिंहासन पर रखा और वे राज्य का कार्य देखने लगे। चित्रकूट से चलकर राम दक्षिण के जंगलों की ओर बढ़े। जब वे पंचवटी में निवास कर रहे थे रावण की एक भगिनी शूर्पणखा एक मनोहर रूप धारण कर वहाँ आयी और राम के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर उनसे विवाह का प्रस्ताव किया।

राम ने जब इसे अस्वीकार किया तो उसने अपना भयंकर रूप प्रकट किया। यह देखकर राम के संकेतों से लक्ष्मण ने उसके नाक-कान काट लिये। इस प्रकार कुरूप की हुई शूर्पणखा अपने भाइयों-खर और दूषण के पास गयी और उन्हें राम से युद्ध करने को प्रेरित किया। खर-दूषण ने अपनी सेना लेकर राम पर आक्रमण कर दिया किन्तु वे अपनी समस्त सेना के साथ युद्ध में मारे गये। तदनन्तर शूर्पणखा रावण के पास गयी और उसने उसे सारी घटना सुनायी। रावण ने मारीच की सहायता से, जिसे विश्वामित्र के आश्रम में राम ने युद्ध में आहत किया था, सीता का हरण किया, जिसके परिणामस्वरूप राम को रावण से युद्ध करना पड़ा।

राम और रावण युद्ध

इस परिस्थिति में राम ने किष्किन्धा के वानरों की सहायता ली और रावण पर आक्रमण कर दिया। इस आक्रमण के साथ रावण का भाई विभीषण भी आकर राम के साथ हो गया। राम ने अंगद नाम के वानर को रावण के पास दूत के रूप में अन्तिम बार सावधान करने के लिए भेजा कि वह सीता को लौटा दे, किन्तु रावण ने अपने अभिमान के बल से इसे स्वीकार नहीं किया और राम तथा रावण के दलों में युद्ध छिड़ गया। उस महायुद्ध में रावण तथा उसके बन्धु-बान्धव मारे गये। तदनन्तर लंका का राज्य उसके भाई विभीषण को देकर सीता को साथ लेकर राम और लक्ष्मण अयोध्या वापस आये। राम का राज्याभिषेक किया गया और दीर्घकाल तक उन्होंने प्रजारंजन करते हुए शासन किया। इस मूल कथा के पूर्व 'रामचरितमानस' में रावण के कुछ पूर्वभवों की तथा राम के कुछ पूर्ववर्ती अवतारों की कथाएँ हैं, जो संक्षेप में दी गयी है। कथा के अन्त में गरुड़ और काग भुशुण्डि का एक विस्तृत संवाद है, जिसमें अनेक प्रकार के आध्यात्मिक विषयों का विवेचन हुआ है। कथा के प्रारम्भ होने के पूर्व शिव-चरित्र, शिव-पार्वती संवाद, याज्ञवलक्य-भारद्वाज संवाद तथा काग भुशुण्डि-गरुड़ संवाद के रूप में कथा की भूमिकाएँ हैं। और उनके भी पूर्व कवि की भूमिका और प्रस्तावना है।

रामचरितमानस

'चरित' की दृष्टि से यह रचना पर्याप्त सफल हुई है। इसमें राम के जीवन की समस्त घटनाएँ आवश्यक विस्तार के साथ एक पूर्वाकार की कथाओं से लेकर राम के राज्य-वर्णन तक कवि ने कोई भी प्रासंगिक कथा रचना में नहीं

आने दी है। इस सम्बन्ध में यदि वाल्मीकीय तथा अन्य अधिकतर राम-कथा ग्रन्थों से 'रामचरितमानस' की तुलना की जाय तो तुलसीदास की विशेषता प्रमाणित होगी। अन्य रामकथा ग्रन्थों में बीच-बीच में कुछ प्रासंगिक कथाएँ देखकर अनेक क्षेपककारों ने 'रामचरितमानस' में प्रक्षिप्त प्रसंग रखे और कथाएँ मिलायीं, किन्तु राम-कथा के पाठकों ने उन्हें स्वीकार नहीं किया और वे रचना को मूल रूप में ही पढ़ते और उसका पारायण करते हैं। चरित-काव्यों की एक बड़ी विशेषता उनकी सहज और प्रयासहीन शैली मानी गयी है, और इस दृष्टि से 'मानस' एक अत्यन्त सफल चरित है। रचना भर में तुलसीदास ने कहीं भी अपना काव्य कौशल, अपना पाण्डित्य, अपनी बहुज्ञता आदि के प्रदर्शन का कोई प्रयास नहीं किया है। सर्वत्र वे अपने वर्ण्य विषय में इतने तन्मय रहे हैं कि उन्हें अपना ध्यान नहीं रहा। रचना को पढ़कर ऐसा लगता है कि राम के चरित ने ही उन्हें वह वाणी प्रदान की है, जिसके द्वारा वे सुन्दर कृति का निर्माण कर सके।

उत्कृष्ट महाकाव्य

'काव्य' की दृष्टि से 'रामचरितमानस' एक अति उत्कृष्ट महाकाव्य है। भारतीय साहित्य-शास्त्र में 'महाकाव्य' के जितने लक्षण दिये गये हैं, वे उसमें पूर्ण रूप से पाये जाते हैं।

कथा-प्रबन्ध का सर्गबद्ध होना

उच्चकुल सम्भूत धीरोदात्त नायक का होना,

शृंगार, शान्त और वीर रसों में से किसी एक का उसका लक्ष्य होना आदि सभी लक्षण उसमें मिलते हैं। पाश्चात्य साहित्यालोचन में 'इपिक' की जो विभिन्न आवश्यकताएँ बतलायी गयी हैं, यथा- उसकी कथा का किसी गौरवपूर्ण अतीत से सम्बद्ध होना, अतिप्राकृत शक्तियों का उसकी कथा में भाग लेना, कथा के अन्त में किन्हीं आदर्शों की विजय का चित्रित होना आदि, सभी 'रामचरितमानस' में पाई जाती हैं। इस प्रकार किसी भी दृष्टि से देखा जाय तो 'रामचरितमानस' एक अत्यन्त उत्कृष्ट महाकाव्य ठहरता है। मुख्यतः यही कारण है कि संसार की महान् कृतियों में इसे भी स्थान मिला है।

रामचरितमानस में छन्दों की संख्या

रामचरितमानस में विविध छन्दों की संख्या निम्नवत है-

- चौपाई–9388

- दोहा–1172
- सोरठा –87
- श्लोक–47 (अनुष्टुप, शार्दूलविक्रीडित, वसन्ततिलका, वंशस्थ, उपजाति, प्रमाणिका, मालिनी, स्रग्धरा, रथोद्धता, भुजङ्गप्रयात, तोटक)
- छन्द–208 (हरिगीतिका, चौपैया, त्रिभङ्गी, तोमर)
- कुल 10902 (चौपाई, दोहा, सोरठा, श्लोक, छन्द)

तुलसीदास की भक्ति

तुलसीदास की भक्ति की अभिव्यक्ति भी इसमें अत्यन्त विशद रूप में हुई है। अपने आराध्य के सम्बन्ध में उन्होंने 'रामचरितमानस' और विनय-पत्रिका' में अनेक बार कहा है कि उनके राम का चरित्र ही ऐसा है कि जो एक बार उसे सुन लेता है, वह अनायास उनका भक्त हो जाता है। वास्तव में तुलसीदास ने अपने आराध्य के चरित्र की ऐसी ही कल्पना की है। यही कारण है कि इसने समस्त उत्तरी भारत पर सदियों से अपना अद्‌भुत प्रभाव डाल रखा है और यहाँ के आध्यात्मिक जीवन का निर्माण किया है। घर-घर में 'रामचरितमानस' का पाठ पिछली साढ़े तीन शताब्दियों से बराबर होता आ रहा है। और इसे एक धर्म ग्रन्थ के रूप में देखा जाता है। इसके आधार पर गाँव-गाँव में प्रतिवर्ष रामलीलाओं का भी आयोजन किया जाता है। फलतः जैसा विदेशी विद्वानों ने भी स्वीकार किया है। उत्तरी भारत का यह सबसे लोकप्रिय ग्रन्थ है और इसने जीवन के समस्त क्षेत्रों में उच्चाशयता लाने में सफलता प्राप्त की है।

लोकप्रिय ग्रन्थ

यहाँ पर स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि तुलसीदास ने राम तथा उनके भक्तों के चरित्र में ऐसी कौन-सी विलक्षणता उपस्थित की है जिससे उनकी इस कृति को इतनी अधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई है। तुलसीदास की इस रचना में अनेक दुर्लभ गुण हैं किन्तु कदाचित अपने जिस महान् गुण के कारण इसने यह असाधारण सम्मान प्राप्त किया है, वह है ऐसी मानवता की कल्पना, जिसमें उदारता, क्षमा, त्याग, निर्वैरता, धैर्य और सहनशीलता आदि सामाजिक शिवत्व के गुण अपनी पराकाष्ठा के साथ मिलते हों और फिर भी जो अव्यावहारिक न हों। 'रामचरितमानस' के सर्वप्रमुख चरित्र-राम, भरत, सीता आदि इसी प्रकार के हैं। उदाहरण के लिए राम और कौशल्या के चरित्रों को देखते हैं-

'वाल्मीकि रामायण' में राम जब वनवास का दु:संवाद सुनाने कौशल्या के पास आते हैं, वे कहते हैं–'देवि, आप जानती नहीं हैं, आपके लिए, सीता के लिए और लक्ष्मण के लिए बड़ा भय आया है, इससे आप लोग दु:खी होंगे। अब मैं दण्डकारण्य जा रहा हूँ, इससे आप लोग दुखी होंगे। भोजन के निमित्त बैठने के लिए रखे गये इस आसन से मुझे क्या करना है? अब मेरे लिए कुशा आसन चाहिये, आसन नहीं। निर्जन वन में चौदह वर्षो तक निवास करूँगा। अब मैं कन्द मूल फल से जीविका चलाऊँगा। महाराज युवराज का पद भरत को दे रहे हैं और तपस्वी वेश में मुझे अरण्य भेज रहे है'।

'अध्यात्म रामायण' में राम ने इस प्रसंग में कहा है, 'माता मुझे भोजन करने का समय नहीं है, क्योंकि आज मेरे लिए यह समय शीघ्र ही दण्डकारण्य जाने के लिए निश्चित किया गया है। मेरे सत्य-प्रतिज्ञ पिता ने माता कैकेयी को वर देकर भरत को राज्य और मुझे अति उत्तम वनवास दिया। वहाँ मुनि वेश में चौदह वर्ष रहकर मैं शीघ्र ही लौट आऊँगा, आप किसी प्रकार की चिन्ता न करें।'

'रामचरितमानस' में यह प्रसंग इस प्रकार है–

"मातृ वचन सुनि अति अनुकूला। जनु सनेह सुरतः के फूला॥
सुख मकरन्द भरे श्रिय मूला। निरखि राम मन भंवरू न भूला॥
धरम धुरीन धरम गनि जानी। कहेउ मातृ सन अमृत वानी॥
पिता दीन्ह मोहिं कानन राजू। जहँ सब भाँति मोर बड़ काजू॥
आयसु देहि मुदित मन माता। जेहिं मुद मंगल कानन जाता॥
जनि सनेह बस डरपति मोरे। आबहुँ अम्ब अनुग्रह तोरे॥"

तुलनात्मक अध्ययन

यहाँ पर दर्शनीय यह है कि तुलसीदास 'वाल्मीकि-रामायण' के राम को ग्रहण न कर 'अध्यात्म रामायण' के राम को ग्रहण किया है। वाल्मीकि के राम में भरत की ओर से अपने स्नेही स्वजनों के सम्बन्ध में जो अनिष्ट की आशंका है, वह 'अध्यात्म रामायण' के राम में नहीं रह गयी है और तुलसीदास के राम में भी नहीं आने पायी है किन्तु इसी प्रसंग में पिता की आज्ञा के प्रति लक्ष्मण के विद्रोह के शब्दों को सुनकर राम ने संसार की अनित्यता और देहादि से आत्मा की भिन्नता का एक लम्बा उपदेश दिया है, जिस पर उन्होंने माता से नित्य विचार करने के लिए अनुरोध किया है, 'हे मात:! तुम भी मेरे इस कथन पर नित्य विचार करना और मेरे फिर मिलने की प्रतीक्षा करती रहना। तुम्हें अधिक काल

तक दु:ख न होगा। कर्म-बन्धन में बँधे हुए जीवों का सदा एक ही साथ रहना-सहना नहीं हुआ करता, जैसे नदी के प्रवाह में पड़कर बहती हुई डोंगियाँ सदा साथ-साथ ही नहीं चलती।

तुलसीदास जी भगवान राम, लक्ष्मण और हनुमान जी को रामचारितमानस का पाठ सुनाते हुए।

व्यावहारिकता

तुलसीदास इस अध्यात्मवाद की दुहाई न देकर अपने आदर्शवाद को अव्यावहारिक होने से बचा लेते हैं। वे राम को एक धर्म-निष्ठ नायक के रूप में ही चित्रित करते हैं, जो पिता की आज्ञा का पालन करना अपना एक परम पुनीत कर्तव्य समझता है, इसलिए उन्होंने कहा है–

'धरम धुरीन धरम गतिजानी।
कहेउ मातु सन अति मृदु बानी।।'

दूसरा प्रसंग

वनवास के दु:ख संवाद को जब राम सीता को सुनाने जाते हैं,

'वाल्मीकीय रामायण' में वे कहते हैं–"मैं निर्जन वन में जाने के लिए प्रस्तुत हुआ हूँ और तुमसे मिलने के लिए यहाँ आया हूँ। तुम भरत के सामने मेरी प्रशंसा न करना, क्योंकि समृद्धिवान लोग दूसरों की स्तुति नहीं सह सकते, इसलिए भरत के सामने तुम मेरे गुणों का वर्णन न करना। भरत के आने पर तुम मुझे श्रेष्ठ न बतलाना, ऐसा करना भरत के प्रतिकूल आचरण कहा जायेगा और अनुकूल रहकर ही भरत के पास रहना सम्भव हो सकता है। परम्परागत राज्य राजा ने भरत को ही दिया है–तुमको चाहिये कि तुम उसे प्रसन्न रखो, क्योंकि वह राजा है"

'अध्यात्म रामायण' में इस प्रसंग में राम ने इतना ही कहा है, हे शुभे! मैं शीघ्र ही उसका प्रबन्ध करने के लिए वहाँ जाऊँगा। मैं आज ही वन को जा रहा हूँ। तुम अपनी सासू के पास जाकर उनकी सेवा-शुश्रुषा में रहो। मैं झूठ नहीं बोलता। हे अनघे! महाराज ने प्रसन्नतापूर्वक कैकयी को वर देकर भरत को राज्य और मुझे वनवास दिया हैं। देवी कैकेयी ने भरत को राज्य और मुझे वनवास दिया हैं। देवी कैकेयी ने मेरे लिए चौदह वर्ष तक वन में रहना माँगा था, सो सत्यवादी दयालु महाराज ने देना स्वीकार कर लिया है। अत: हे भामिनि! मैं वहाँ शीघ्र ही जाऊँगा, तुम इसमें किसी प्रकार का विघ्न न खड़ा करना।

'रामचरितमानस' में इस प्रकार सीता से विदा लेने गये हुए राम नहीं दिखलाये जाते हैं, इसमें सीता स्वयं कौशल्या के पास उस समय वनवास का समाचार सुनकर आ जाती हैं, जब राम कौशल्या से वन गमन की आज्ञा लेने के लिए आते हैं और सीता की राम के साथ वन जाने की इच्छा समझकर कौशल्या ही राम से उनकी इच्छा का निवेदन करती हैं। 'अध्यात्म रामायण' में ही भरत के प्रति किसी प्रकार की आशंका और सन्देह के भाव राम के मन में नहीं चित्रित किये गये, 'रामचरितमानस' में भी राम के उसी उदार व्यक्तित्व को अंकित किया गया है।

भरत प्रेम

तुलसीदास राम के चरित्र में भरत प्रेम का एक अद्‌भुत विकास करते हैं, जो अन्य राम-कथा ग्रन्थों में नहीं मिलता। उदाहरणार्थ-

चित्रकूट में राम के रहन-सहन का वर्णन करते हुए वे कहते हैं-

"जब-जब राम अवध सुधि करहीं। तब-तब बारि बिलोचन भरहीं।
सुमिरि मातु पितु परिजन भाई। भरत सनेह सील सेवकाई।
कृपासिन्धु प्रभु होहिं दुखारी। धीरज धरहिं कुसमय बिचारी"

भरत के आगमन का समाचार सुनकर लक्ष्मण जब राम के अनिष्ट की आशंका से उनके विरुद्ध उत्तेजित हो उठते हैं, राम कहते हैं-

'कहीं तात तुम्ह नीति सुनाई। सबतें कठिन राजमद भाई
जो अँचवत मातहिं नृपतेई। नाहिंन साधु समाजिहिं सेई
सुनहु लषन भल भरत सरीखा। विधि प्रपंच महँ सुना न दीषा
भरतहिं होई न राज मद, विधि हरिहर पद पाइ। कबहुँ कि कांजी सीकरनि छीर सिन्धु बिनसाइ
तिमिर तरून तरिनिहि मकु गिलई। गगन मगन मकु मेघहि मिलई
गोपद जल बूड़ति घट जोनी। सहज क्षमा बरू छाड़इ छोनी
मसक फूँक मकु मेरू उड़ाई। होइ न नृप पद भरतहि भाई
लषन तुम्हार सपथ पितु आना। सुचि सुबन्धु नहिं भरत समाना
सगुन क्षीर अवगुन जल ताता। मिलइ रचइ परपंच विधाता
भरत हंस रवि बंस तड़ागा। जनमि लीन्ह गुन शेष विभागा
गहि गुन पय तजि अवगुन बारी। निज जस जगत कीन्ह उजियारी
कहत भरत सुन सील सुभाऊ। प्रेम पयोधि मगन रघुराऊ

चित्रकूट में भरत की विनय सुनने के लिए किये गये वशिष्ठ के कथन पर राम कह उठते हैं-

"गुरु अनुराग भरत पर देखी। राम हृदय आनन्द विसेषी
भरतहिं धरम धुरन्धर जानी।। निज सेवक तन मानस बानी
बोले गुरु आयसु अनुकूला। बचन मंजु मृदु मंगल मूला
नाथ सपथ पितु चरन दोहाई। भयउ न भुवन भरत सन भाई
जो गुरु पर अंबुज अनुरागी। ते लोक हूं वेदहुं बड़ भागी
लखि लघु बन्धु बुद्धि सकुचाई। करत बदन पर भरत बड़ाई
भरत कहहिं सोइ किये भलाई। अस कहि राम रहे अरगाई।"

ये तीनों विस्तार मौलिक हैं और 'रामचरितमानस' के पूर्व किसी राम-कथा ग्रन्थ में नहीं मिलते। भरत के प्रति राम के प्रेम का यह विकास तुलसीदास की विशेषता है और पूरे 'रामचरितमानस' में उन्होंने इसका निर्वाह भली भांति किया है। भरत ननिहाल से लौटते हैं तो कौशल्या से उनसे मिलने के लिए दौड़ पड़ती हैं और उनके स्तनों से दूध की धारा बहने लगती है। राम-माता का यह चित्र 'अध्यात्म रामायण' में भी नहीं है, यद्यपि उसमें भरत के प्रति कौसल्या की वह संकीर्ण-हृदयता भी नहीं है, जो 'वाल्मीकि रामायण' में पायी जाती है। 'वाल्मीकि-रामायण' में तो कौशल्या भरत से कहती हैं, 'यह शत्रुहीन राज्य तुम को मिला, तुमने राज्य चाहा और वह तुम्हें मिला। कैकेयी ने बड़े ही निन्दित कर्म के द्वारा इस राज्य को राजा से पाया है। . धन-धान्य से युक्त हाथी, घोड़ों और रथों से पूर्ण यह विशाल राज्य कैकेयी ने राजा से लेकर तुमको दे दिया है।" इस प्रकार अनेक कठोर वचनों से कौशल्या ने भरत का तिरस्कार किया, जिनसे वे घाव में सुई छेदने के समान पीड़ा से दुखी हुए।

रामचरितमानस की लोकप्रियता

इसी प्रकार भरत, सीता, कैकेयी और कथा के अन्य प्रमुख पात्रों में भी तुलसीदास ने ऐसे सुधार किये हैं कि वे सर्वथा तुलसीदास के हो गये हैं। इन चरित्रों में मानवता का जो निष्कलुष किन्तु व्यावहारिक रूप प्रस्तुत किया गया है, वह न केवल तत्कालीन साहित्य में नहीं आया, तुलसी के पूर्व राम-साहित्य में भी नहीं दिखाई पड़ा। कदाचित इसलिए तुलसीदास के 'रामचरितमानस' ने वह लोकप्रियता प्राप्त की, जो तब से आज तक किसी अन्य कृति को नहीं प्राप्त हो सकी। भविष्य में भी इसकी लोकप्रियता में अधिक अन्तर न आयेगा, दृढ़तापूर्वक

यह कहना तो किसी के लिए भी असम्भव होगा किन्तु जिस समय तक मानव जाति आदर्शों और जीवन-मूल्यों में विश्वास रखेगी, 'रामचरितमानस' को सम्मानपूर्वक स्मरण किया जाता रहेगा, यह कहने के लिए कदाचित किसी भविष्यत-वक्ता की आवश्यकता नहीं है।

5

विद्यापति

विद्यापति भारतीय साहित्य की 'शृंगार-परम्परा' के साथ-साथ 'भक्ति-परम्परा' के प्रमुख स्तंभों में से एक और मैथिली के सर्वोपरि कवि के रूप में जाने जाते हैं। इनके काव्यों में मध्यकालीन मैथिली भाषा के स्वरूप का दर्शन किया जा सकता है। इन्हें वैष्णव, शैव और शाक्त भक्ति के सेतु के रूप में भी स्वीकार किया गया है। मिथिला के लोगों को 'देसिल बयना सब जन मिट्ठा' का सूत्र दे कर इन्होंने उत्तरी-बिहार में लोकभाषा की जनचेतना को जीवित करने का महान् प्रयास किया है।

मिथिलांचल के लोकव्यवहार में प्रयोग किये जानेवाले गीतों में आज भी विद्यापति की शृंगार और भक्ति-रस में पगी रचनाएँ जीवित हैं। पदावली और कीर्तिलता इनकी अमर रचनाएँ हैं।

शृंगार रस के कवि विद्यापति

हिन्दी साहित्य का प्रारम्भ शुक्ल जी ने सम्वत् 1050 से माना है। वे मानते हैं कि प्राकृत की अन्तिम अपभ्रंश अवस्था से ही हिन्दी साहित्य का आरम्भ होना चाहिए इसे ही वे वीरगाथा काल मानते हैं। उन्होंने इस सन्दर्भ में इस काल की जिन आरम्भिक रचनाओं का उल्लेख किया है उनमें विद्यापति एक प्रमुख रचनाकार हैं तथा उनकी प्रमुख रचनाओं का इस काल में बड़ा महत्त्व है। उनकी प्रमुख रचनाएं हैं- कीर्तिलता कीर्तिपताका तथा पदावली। कीर्तिलता के बारे में

यह स्पष्ट लिखा है कि–ऐसा जान पड़ता है कि कीर्तिलता बहुत कुछ उसी शैली में लिखी गई थी जिसमें चन्दबरदाई ने पृथ्वीराज रासो लिखा था। यह भृंग और भृंगी के संवाद–रूप में है। इसमें संस्कृत और प्राकृत के छन्दों का प्रयोग हुआ है। संस्कृत और प्राकृत के छन्द रासो में बहुत आए हैं। रासो की भांति कीर्तिलता में भी गाथा छन्द का व्यवहार प्राकृत भाषा में हुआा है।

उपरोक्त विवरण से यह तो स्पष्ट है कि विद्यापति को आदि काल की ही परिधि में रखना समीचीन होगा। विद्यापति के पदों में मधुरता और गेयता का गुण अद्वितीय है। अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने उनके काव्य की प्रशंसा करते हुए लिखा है– "गीत गोविन्द के रचनाकार जयदेव की मधुर पदावली पढ़कर जैसा अनुभव होता है, वैसा ही विद्यापति की पदावली पढ़ कर। अपनी कोकिल कंठता के कारण ही उन्हें 'मैथिल कोकिल' कहा जाता है।"

विद्यापति ने संस्कृत, अवहट्ठ, एवं मैथिली में कविता रची। इसके इलावा भूपरिक्रमा, पुरुषपरीक्षा, लिखनावली आदि अनेक रचनाएँ साहित्य को दीं। कीर्तिलता और कीर्तिपताका नामक रचनाएं अवहट्ठ में लिखी हैं। पदावली उनकी हिन्दी–रचना है और वही उनकी प्रसिद्धि का कारण है। पदावली में कृष्ण–राधा विषयक श्रृंगार के पद हैं। इनके आधार पर इन्हें हिन्दी में राधा–कृष्ण–विषयक श्रृंगारी काव्य के जन्म दाता के रूप में जाना जाता है।

विद्यापति के श्रृंगारी कवि होने का कारण बिल्कुल स्पष्ट है। वे दरबारी कवि थे और उनके प्रत्येक पद पर दरबारी वातावरण की छाप दिखाई देती है। पदावली में कृष्ण के कामी स्वरूप को चित्रित किया गया है। यहां कृष्ण जिस रूप में चित्रित हैं वैसा चित्रण करने का दुस्साहस कोई भक्त कवि नहीं कर सकता। इसके इलावा राधा जी का भी चित्रण मुग्धा नायिका के रूप में किया गया है। विद्यापति वास्तव में कवि थे, उनसे भक्त के समान अपेक्षा करना ठीक नहीं होगा। उन्होंने नायिका के वक्षस्थल पर पड़ी हुई मोतियों की माला का जो वर्णन किया है उससे उनके कवि हृदय की भावुकता एवं सौंदर्य अनुभूति का अनुमान लगाया जा सकता है। एक उदाहरण देखिए–

कत न वेदन मोहि देसि मरदाना।
हट नहिं बला, मोहि जुबति जना।
भनई विद्यापति, तनु देव कामा।
एक भए दूखन नाम मोरा बामा।
गिरिवर गरुअपयोधर परसित।

गिय गय मौतिक हारा।
काम कम्बु भरि कनक संभुपरि।
ढारत सेरसरि धारा।

विद्यापति की कविता शृंगार और विलास की वस्तु है, उपासना एवं साधना उनका उद्देश्य नहीं है। राधा और कृष्ण साधारण स्त्रीपुरुष के रूप में परस्पर प्रेम करते हैं। स्वयं विद्यापति ने अपनी रचना कीर्तिपताका में लिखा है- सीता की विरह वेदना सहन करने के कारण राम को काम-कला-चतुर अनेक स्त्रियों के साथ रहने की वेदना उत्कट इच्छा उन्होंने कृष्णावतार लेकर गोपियों के साथ विभिन्न प्रकार से कामक्रीडा की। अत: स्पष्ट है कि स्वयं कवि की दृष्टि में कृष्ण और राधा शृंगार रस के नायक-नायिका ही थे।

विद्यापति ने नारी का नख-शिख वर्णन अपनी कविता में किया है, तथा मूलत: शृंगार रस का प्रयोग किया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि उनकी शृंगारी मनोवृत्ति थी। अत: उनसे भक्त जैसे काव्य-व्यवहार की अपेक्षा करना कदाचिद् एक तरह का उनसे अन्याय ही है। उन पर गीतगोविन्द के रचनाकार जयदेव का प्रभाव है। गीतगोविन्द में शृंगार रस का भरपूर प्रयोग हुआ है, तथा जो चित्र जयदेव ने श्री कृष्ण का गीतगोविन्द में प्रस्तुत किया है ठीक वैसा ही चरित्रंकन विद्यापति ने पदावली में किया है। स्पष्ट है जयदेव और विद्यापति ने जो चित्र अपनी रचनाओं में प्रस्तुत किया है वह महाभारतकालीन धर्मस्थापना वाले श्रीकृष्ण से नितान्त भिन्न है। महाभारत में राधा जहां श्रीकृष्ण की प्रेरक शक्ति के रूप में दिखाई देतीं हैं, वहीं पदावली में विद्यापति ने कृष्ण की उद्दाम कामवासनाओं से प्रेरित राधा का रूप देखने को मिलता है। पदावली में जो कुछ वर्णित है उससे कोई भी उन्हें भक्त कवि नहीं मान सकता क्योंकि भक्त कवि अवने आराध्य को इस प्रकार शृंगार से मण्डित करने का दुस्साहस नहीं कर सकता। विशेषकर, दूती एवं सखी-शिक्षा-प्रसंग में जो राधाकृष्ण का अमर्यादित रूप प्रस्तुत किया गया है वह केवल कोई शृंगारी कवि ही कर सकता है, भक्त कवि नहीं। अतिशय शृंगार का एक वर्णन विद्यापति की पदावली से देखिए-

लीलाकमल भमर धरु वारि।
चमकि चलिल गोरि-चकित निहारि।
ले भेल बेकत पयोधर सोम।
कनक-कनक हेरि काहिन लोभ।
आध भुकाएल, बाघ उदास।
केचे-कुंभे कहि गेल अप्प आस।

कुछ आलोचक उन्हें भक्त भी मानते हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि निम्बार्क द्वारा प्रतिपादित द्वैताद्वैत सिद्धान्त के अनुरूप रागानुगाभक्ति का दर्शन इनके पदों में होता है और उनके पदों में राधाकृष्ण की लीलाओं के वर्णन भक्ति-भावना के परिप्रेक्ष्य में देखे जाने चाहिए। डॉ ग्रियर्सन भी इसी मत की ही तरह लिखते हैं- विद्यापति के पद लगभग सब के सब वैष्णव पद या भजन हैं और सभी हिन्दु बिना किसी काम-भावना का अनुभव किए विद्यापति की पदावली के पदों का गुणगान करते हैं। श्री नगेन्द्र नाथ गुप्त ने तो उन्हें भक्त प्रतिपादित करते हुए विद्यापति के पदों को शुद्ध अध्यात्मभाव से युक्त बताया है। डॉ जनार्दन मिश्र ने विद्यापति की पदावली को आध्यात्मिक विचार तथा दार्शनिक गूढ़ रहस्यों से परिपूर्ण माना। डॉ श्यामसुन्दर दास के अनुसार हिन्दी के वैष्णव साहित्य के प्रथम कवि मैथिल कोकिल विद्यापति हैं। उनकी रचनाएं राधा और कृष्ण के पवित्र प्रेम से ओतपोत हैं।

कुछ आलोचकों का कहना है कि विद्यापति ने पदावली की रचना वैष्णव साहित्य के रूप में की है। गीतगोविन्द की भाँति उनकी पदावली में राधा-कृष्ण की प्रेममयी मूर्ति की झांकी दृष्टिगोचर होती है। उन्होंने अपने इष्ट की उपासना सामाजिक रूप में की है। इस दृष्टिकोण से उन्होंने विद्यापति के उन पदों को उद्धृत किया है जो विद्यापति ने राधा, कृष्ण, गणेश, शिव आदि की वन्दना के लिए लिखे हैं। राधा की वन्दना-विषयक एक पद देखिए-

देखदेख राधा-रूप अपार।
अपुरुष के बिहि आनि मिला ओल।
खिति-बल लावनि-सार।
अंगहि अंग अनंग मुरछायत,
हेरए पडए अधीर।

यही नहीं, उन्होंने प्रार्थना एवं नर-नारी के प्रसंग में भी अनेक देवीदेवताओं, राधाकृष्ण, दुर्गा, शिव, विष्णु, सूर्य आदि की वन्दना की है। कुछ समालोचक ऐसे भी हैं जो विद्यापति के शृंगारिक पदों की ओर ध्यान दिए बगैर ही उनके प्रार्थना सम्बन्धी पदों के आधार पर ही उन्हें भक्त कवि मान लेते हैं। यह सत्य है कि उन के कुछ भक्ति परक पद हैं परन्तु शृंगार परक रचना अधिक है यहां तक कि भक्ति परक पदों में भी शृंगार का अतिशय वर्णन किया गया है।

विद्यापति के अनेक पदों से यह स्पष्ट है कि विद्यापति वास्तव में कोई वैष्णव नहीं थे, केवल परम्परा के अनुसार ही उन्होंने ग्रंथ के आरम्भ में गणेश आदि की वन्दना की है। उनके पदों को भी दो भागों में बांट सकते हैं। 1–राधाकृष्ण विषयक, 2 शिवगौरी सम्बन्धी। राधा कृष्ण सम्बन्धी पदों में भक्ति–भावना की उदात्तता एवं गम्भीरता का अभाव है तथा इन पदों में वासना की गन्ध साफ दिखाई देती है। धार्मिकता, दार्शनिकता या आध्यात्मिकता को खोजना असम्भव है। शिव–गौरी सम्बन्धी पदों में वासना का रंग नहीं है तथा इन्हें भक्ति की कोटि में रखा जा सकता है।

राधा कृष्ण विषयक पदों में विद्यापति ने लौकिक प्रेम का ही वर्णन किया है। राधा और कृष्ण साधारण स्त्रीपुरुष की ही तरह परस्पर प्रेम करते प्रतीत होते हैं तथा भक्ति की मात्र न के बराबर है। इस तरह कहा जा सकता है कि विद्यापति शृंगारी कवि हैं उनके पदों में माधुर्य पग–पग पर देखा जा सकता हैं। उन्होंने राधाकृष्ण के नामों का प्रयोग आराधना के लिए नहीं किया है अपितु साधारण नायक के रूप में पेश किया है तथा विद्यापति का लक्ष्य पदावली में शृंगार निरूपण करना है। कवि के काव्य का मूल स्थायी भाव शृंगार ही है। राज्याश्रित रहते हुए उन्होंने राजा की प्रसन्नता में शृंगारपरक रचनाएं ही कीं, इसमें सन्देह नहीं। इसके अतिरिक्त विद्यापति के समय में भक्ति की तुलना में शृंगारिक रचना का महत्त्व अधिक था। जयदेव की गीतगोविन्द जैसी रचनाएं इसी कोटि की हैं।

प्रमुख रचनाएँ

महाकवि विद्यापति संस्कृत, अवहट्ठ, मैथिली आदि अनेक भाषाओं के प्रकाण्ड पंडित थे। शास्त्र और लोक दोनों ही संसार में उनका असाधारण अधिकार था। कर्मकाण्ड हो या धर्म, दर्शन हो या न्याय, सौन्दर्यशास्त्र हो या भक्ति–रचना, विरह–व्यथा हो या अभिसार, राजा का कृतित्व गान हो या सामान्य जनता के लिए गया में पिण्डदान, सभी क्षेत्रों में विद्यापति अपनी कालजयी रचनाओं की बदौलत जाने जाते हैं। महाकवि ओईनवार राजवंश के अनेक राजाओं के शासनकाल में विराजमान रहकर अपने वैदुष्य एवं दूरदर्शिता से उनका मार्गदर्शन करते रहे। जिन राजाओं ने महाकवि को अपने यहाँ सम्मान के साथ रखा उनमें प्रमुख है–

(क) देवसिंह

(ख) कीर्तिसिंह

(ग) शिवसिंह
(घ) पद्मसिंह
(ड़) नरसिंह
(च) धीरसिंह
(छ) भैरवसिंह और
(ज) चन्द्रसिंह।

इसके अलावे महाकवि को इसी राजवंश की तीन रानियों का भी सलाहकार रहने का सौभाग्य प्राप्त था। ये रानियाँ है–

(क) लखिमादेवी (देई)
(ख) विश्वासदेवी, और
(ग) धीरमतिदेवी।

6

मलिक मुहम्मद जायसी

मलिक मुहम्मद जायसी भक्तिकाल की निर्गुण प्रेमाश्रयी शाखा व मलिक वंश के कवि हैं। जायसी अत्यंत उच्चकोटि के सरल और उदार सूफी महात्मा थे। हिन्दी के प्रसिद्ध सूफी कवि, जिनके लिए केवल 'जायसी' शब्द का प्रयोग भी, उनके उपनाम की भाँति, किया जाता है। यह इस बात को भी सूचित करता है कि वे जायस नगर के निवासी थे। इस संबंध में उनका स्वयं भी कहना है,

जायस नगर मोर अस्थानू।
नगरक नाँव आदि उदयानू।
तहाँ देवस दस पहुने आएऊँ।
भा वैराग बहुत सुख पाएऊँ।।

इससे यह भी पता चलता है कि उस नगर का प्राचीन नाम 'उदयान' था, वहाँ वे एक 'पहुने' जैसे दस दिनों के लिए आये थे, अर्थात् उन्होंने अपना नश्वर जीवन प्रारंभ किया था अथवा जन्म लिया था और फिर वैराग्य हो जाने पर वहाँ उन्हें बहुत सुख मिला था।

जन्म

जायस नाम का एक नगर उत्तर प्रदेश के रायबरेली जिले में आज भी वर्तमान है, जिसका पुराना नाम 'उद्यान नगर' 'उद्यानगर' या 'उज्जालिक नगर' बतलाया जाता है तथा उसके 'कंचाना खुर्द' नामक मुहल्ले में मलिक मुहम्मद

जायसी का जन्म स्थान होना कहा जाता है। कुछ लोगों की धारणा है कि जायसी की जन्म भूमि गाजीपुर में कहीं हो सकती है किन्तु इसके लिए कोई प्रमाण नहीं मिलता। जायस के विषय में कवि ने अन्यत्र भी कहा है,

जायस नगर धरम अस्थानू।
तहवाँ यह कवि कीन्ह बखानू।

इससे जान पड़ता है कि वह उस नगर को 'धर्म का स्थान' समझता था और वहाँ रहकर उसने अपने काव्य 'पद्मावत' की रचना की थी। यहाँ पर नगर का 'धर्म स्थान' होना कदाचित यह भी सूचित करता है कि जनश्रुति के अनुसार वहाँ उपनिषदकालीन उद्दालक मुनि का कोई आश्रम था। गार्सां द तासी नामक फ्रैंच लेखक का तो यह भी कहना है कि जायसी को प्रायः 'जायसीदास' के नाम से अभिहित किया जाता रहा है।

जन्म को लेकर मतभेद

जायसी की किसी उपलब्ध रचना के अन्तर्गत उसकी निश्चित जन्म-तिथि अथवा जन्म-संवत का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं पाया जाता। एक स्थल पर वे कहते हैं,

भा आवतार मोर नौ सदी।
तीस बरिख ऊपर कवि बदी।

जिसके आधार पर केवल इतना ही अनुमान किया जा सकता है कि उनका जन्म सम्भवतः 800 हिजरी एवं 900 हिजरी के मध्य, अर्थात् सन् 1397 ई. और 1494 ई. के बीच किसी समय हुआ होगा तथा तीस वर्ष की अवस्था पा चुकने पर उन्होंने काव्य-रचना का प्रारम्भ किया होगा।

परिवार

जायसी के नाम के पहले 'मलिक' उपाधि लगी रहने के कारण कहा जाता है कि उनके पूर्वज ईरान से आये थे और वहीं से उनके नामों के साथ यह जमींदार सूचक पदवी लगी आ रही थी किन्तु उनके पूर्वपुरुषों के नामों की कोई तालिका अभी तक प्राप्त नहीं हो सकी है। उनके पिता का नाम मलिक राजे अशरफ बताया जाता है और कहा जाता है कि वे मामूली जमींदार थे और खेती करते थे। इनके नाना का नाम शेख अल-हदाद खाँ था। स्वयं जायसी को भी खेती करके जीविका-निर्वाह करना प्रसिद्ध है। कुछ लोगों का अनुमान करना कि 'मलिक' शब्द का प्रयोग उनके किसी निकट सम्बन्धी के 'बारह हजार का

रिसालदार' होने के कारण किया जाता होगा अथवा यह कि सम्भवत: स्वयं भी उन्होंने कुछ समय तक किसी सेना में काम किया होगा, प्रमाणों के अभाव में संदिग्ध हो जाता है। सैयद आले का मत है कि "मोहल्ला गौंरियाना के निगलामी मलिक खानदान से थे" और "उनके पुराने सम्बन्धी मुहल्ला कंचाना में बसे थे।" उन्होंने यह बतलाया है कि जायसी का मलिक कबीर नाम का एक पुत्र भी था। मलिक मुहम्मद जायसी कुरूप और एक आँख से काने थे। कुछ लोग उन्हें बचपन से ही काने मानते हैं जबकि अधिकांश लोगों का मत है कि चेचक के प्रकोप के कारण ये कुरूप हो गये थे और उसी में इनकी एक आँख चली गयी थी। उसी ओर का बायाँ कान भी नाकाम हो गया। अपने काने होने का उल्लेख उन्होंने स्वयं ही किया है–

एक नयन कवि मुहम्मद गुमी।

सोइ बिमोहो जेइ कवि सुनी।। चांद जइस जग विधि ओतारा। दीन्ह कलंक कीन्ह उजियारा।।

जग सुझा एकह नैनाहां। उवा सूक अस नखतन्ह मांहां।। जो लहिं अंबहिं डाभ न होई। तो लाहि सुगंध बसाई न सोई।।

कीन्ह समुद्र पानि जों खारा। तो अति भएउ असुझ अपारा।। जो सुमेरु तिरसूल बिना सा। भा कंचनगिरि लाग अकासा।।

जौं लहि घरी कलंक न परा। कांच होई नहिं कंचन करा।। एक नैन जस दापन, और तेहि निरमल भाऊ। सब रुपवंत पांव जहि, मुख जोबहिं कै चाउ।।

मुहम्मद कवि जो प्रेम या, ना तन रकत न मांस।

जेइं मुख देखा तइं हंसा, सुना तो आये आंहु।।

उपर्युक्त पंक्तियों से अनुमान होता है कि बाएँ कान से भी उन्हें कम सुनाई पड़ता था। एक बार जायसी शेरशाह के दरबार में गए, तो बादशाह ने इसका मुँह देखकर हँस दिया। जायसी ने शांत भाव से पूछा –

मोहि कां इससि कि कोहरहि?

अर्थात् तू मुझ पर हंसा या उस कुम्हार पर,

इस पर शेरशाह ने लज्जित होकर क्षमा माँगी।

जायसी एक सन्त प्रकृति के गृहस्थी थे। इनके सात पुत्र थे लेकिन दीवार गिर जाने के कारण सभी उसमें दब कर मर गये थे। तभी से इनमें वैराग्य जाग गया और ये फकीर बन गये।

शिक्षा

जायसी की शिक्षा भी विधिवत् नहीं हुई थी। जो कुछ भी इन्होनें शिक्षा-दीक्षा प्राप्त की वह मुसलमान फकीरों, गोरखपन्थी और वेदान्ती साधु-सन्तों से ही प्राप्त की थी।

गुरु-परम्परा

जायसी ने अपनी कुछ रचनाओं में अपनी गुरु-परम्परा का भी उल्लेख किया है। उनका कहना है, "सैयद अशरफ, जो एक प्रिय सन्त थे मेरे लिए उज्ज्वल पन्थ के प्रदर्शक बने और उन्होंने प्रेम का दीपक जलाकर मेरा हृदय निर्मल कर दिया। उनका चेला बन जाने पर मैं अपने पाप के खारे समुद्री जल को उन्हीं की नाव द्वारा पार कर गया और मुझे उनकी सहायता से घाट मिल गया, वे जहाँगीर चिश्ती चाँद जैसे निष्कलंक थे, संसार के मखदूम (स्वामी) थे और मैं उन्हीं के घर का सेवक हूँ"। "सैयद अशरफ जहाँगीर चिश्ती के वंश में निर्मल रत्न जैसे हाजी हुए तथा उनके अनन्तर शेख मुबारक और शेख कमाल हुए"।

चार मित्रों का वर्णन

जायसी ने 'पद्मावत' (22) में अपने चार मित्रों की चर्चा की है, जिनमें से युसुफ मलिक को 'पण्डित और ज्ञानी' कहा है, सालार एवं मियाँ सलोने की युद्ध-प्रियता एवं वीरता का उल्लेख किया है तथा बड़े शेख को भारी सिद्ध कहकर स्मरण किया है और कहा है कि ये चारों मित्र उनसे मिलकर एक चिह्न हो गए थे परन्तु उनके पूर्वजों एवं वंशजों की भाँति इन लोगों का भी कोई प्रमाणिक परिचय उपलब्ध नहीं है।

जायसी का खुद के बारे में कथन

जायसी सैय्यद अशरफ को प्यारे पीर मानते हैं और स्वयं को उनके द्वार का मुरीद बताते हैं। उनकी काव्य शैली में -

सो मोरा गुरु तिन्ह हो चला।

धोवा पाप पानिसिर मेला।। प्रेम पियाला या पंथ लखावा। अरपु चाखि मोहिं बूँद चखावा।। जो मधु चढ़ा न उतरइ कावा।

परेउ माति पसउं फेरि अरवा।।

एक स्थान पर वो अपने बारे में काफी विनम्र भाव से कहते हैं–

मुहम्मद मलिक पेम मधुभोरा।

नाउँ बड़ेरा दरपन थोरा।। जेव-जेंव बूढ़ा तेवं- तेवं नवा। खुदी कई ख्याल न कवा।। हाथ पियाला साथ सुरांई। प्रेम पीतिलई आरे निबाही।। बुधि खोई और लाज गँवाई। अजहूँ अइस धरी लरिकाई।। पता न राखा दुहवई आंता। माता कलालिन के रस मांता।। दूध पियसववइ तेस उधारा। बालक होई परातिन्ह बारा।। खउं लाटउं चाहउं खेला। भएउ अजान चार सिर मेला।।

पेम कटोरी नाइके मता पियावइ दूध।

बालक पीया चाहइ, क्या मगर क्या बूध।।

इस पंक्तियों से लगता है कि ये प्रेम- मधु के भ्रमर थे। जायसी संसार को अस्थिर मानते थे, उनके हिसाब से प्रेम और सद्भाव ही स्थिर है या रहेगा, जबकि संसार की तमाम वस्तुएँ अस्थिर है। जायसी ने संसार की अस्थिरता का वर्णन अन्य स्थल पर इस प्रकार किया है -

यह संसार झूठ थिर नाहिं।

तरुवर पंखि तार परछाहीं।। मोर मोर कइ रहा न कोई। जाऐ उवा जग अथवा सोई।।

समुद्र तरंग उठै अद्य कूपा। पानी जस बुलबुला होई। फूट बिस्मादि मिलहं जल सोई।। मलिक मुहम्मद पंथी घर ही माहिं उदास।

कबहूँ संवरहि मन कै, कवहूँ टपक उबास।।

एक स्थान पर चित्ररेखा में उन्होंने अपने बारे में लिखा है–

मुहमद सायर दीन दुनि, मुख अंब्रित बेनान। बदन जइस जग चंद सपूरन, एक जइस नेनान।

कृतियाँ

पद्मावत

जायसी की 21 रचनाओं के उल्लेख मिलते हैं जिसमें पद्मावत, अखरावट, आखिरी कलाम, कहरानामा, चित्ररेखा आदि प्रमुख हैं पर उनकी ख्याति का आधार पद्मावत ग्रंथ ही है। इसकी भाषा अवधी है और इसकी रचना शैली पर आदिकाल के जैन कवियों की दोहा चौपाई पद्धति का प्रभाव पड़ा है। 'पद्मावत' का रचनाकाल उन्होंने 147 हिजरी ('सन नौ से सैंतालीस अहै'- पद्मावत 24)। अर्थात् 1540 ई. बतलाया है। 'पद्मावत' के अन्तिम अंश (653) के आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि उसे लिखते समय तक वे वृद्ध हो चुके थे,

"उनका शरीर क्षीण हो गया था, उनकी दृष्टि मन्द पड़ गयी थी, उनके दाँत जाते रहे थे उनके कानों में सुनने की शक्ति नहीं रह गयी थी, सिर झुक गया था, केश श्वेत हो चले थे तथा विचार करने तक की शक्ति क्षीण हो चली थी" किन्तु इसका कोई संकेत नहीं है कि इस समय वे कितने वर्ष की अवस्था तक पहुँच चुके थे। जायसी ने 'आखिरी कलाम' का रचनाकाल देते समय भी केवल इतना ही कहा है–

नौ से बरस छतीस जो भए।
तब यह कविता आखर कहे'।

अर्थात् 936 हिजरी अथवा सन् 1529 ई. के आ जाने पर मैंने इस काव्य का निर्माण किया। 'पद्मावत' ('पद्मावत' 13–17), में सुल्तान शेरशाह सूर (सन् 1540–1545 ई.) तथा 'आखिरी कलाम' में मुगल बादशाह बाबर (सन् 1526–1530 ई.) के नाम शाहे वक्त के रूप में अवश्य लिये हैं और उनकी न्यूनाधिक प्रशंसा भी की है, जिससे सूचित होता है कि वे उनके समकालीन थे। नेरशरीफ (जिला पटना, बिहार) वाले खानकाह के पुस्तकालय में फारसी अक्षरों में लिखित पुरानी प्रतियों का एक संग्रह मिला है, जिसमें जायसी की 'अखरावत' की भी एक प्रति मिली है। उसमें उसका लिपिकाल जुमा 8 जुल्काद सन् 911 हिजरी अर्थात् सन् 1505 ई. दिया गया जान पड़ता है, जो प्रत्यक्षतः पुराना समय है। प्रोफेसर सैयद हसन असकरी का अनुमान है कि वह वस्तुतः 'अखरावट' का रचनाकाल होगा, जो प्रतिलिपि करते समय मूल प्रति से ज्यों का त्यों उद्धृत कर लिया होगा। तदनुसार उनका कहना है कि यदि वह जायसी की सर्वप्रथम रचना सिद्ध की जा सके तो उनके जन्म संवत का पता लगा लेना हमारे लिए असम्भव नहीं रह जाता। सन् 911 हिजरी अर्थात् सन् 1505 ई. में उपर्युक्त 30 वर्ष का समय घटाकर सन् 881 हिजरी अर्थात् 1475 ई. लाया जा सकता है और यह सरलतापूर्वक बतलाया जा सकता है कि जायसी का जन्म इसके आस पास हुआ होगा। इन प्रसंग में 910–11 हिजरी के उस प्रचण्ड भूकम्प का भी उल्लेख किया गया है, जिसकी चर्चा अब्दुल्लाह की 'तारीख दाऊदी' तथा बदायूनी की 'मुन्तखबुअत्तारीख' जैसे इतिहास-ग्रन्थों में की गयी है और उसके साथ जायसी द्वारा 'आखिरी कलाम' (4) में वर्णित भूकम्प की समानता दिखलाकर उपर्युक्त अनुमान की पुष्टि का प्रयत्न भी किया गया है परन्तु यहाँ उपर्युक्त "तीस बरिस ऊपर कवि बदी" के अनन्तर आये हुए "आवत उद्यतभार बड़हाना" के 'आवात' शब्द की ओर कदाचित यथेष्ट ध्यान नहीं दिया गया है। यदि उसका अभिप्राय

'जन्म लेते समय' माना जाये तो उससे ग्रन्थ-रचना के समय का अर्थ नहीं लिया जा सकता। अत: जब तक अन्य स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध न हों, जन्मसम्बन्धी उपर्युक्त धारणा संदिग्ध बनी रहती है। आपकी अनेक रचनाऐं बताई जाती हैं। सर्वसम्मत रचनाएँ निम्नलिखित हैं–

पद्मावत

यह महाकाव्य जायसी की काव्य-प्रतिभा का सर्वोत्तम प्रतिनिधि है। इसमें चित्तौड़ के राजा रलसेन और सिंहलद्वीप की राजकुमारी पद्मावती की प्रेमकथा वर्णित है। कवि ने कथानक इतिहास से लिया है परन्तु प्रस्तुतीकरण सर्वथा काल्पनिक है। भाव और कला-पक्ष, दोनों ही दृष्टियों से यह एक उत्कृष्ट रचना है। पद्मावत इनका ख्याति का स्थायी स्तम्भ है। 'पद्मावत' मसनवी शैली में रचित एक प्रबंध काव्य है। यह महाकाव्य 57 खंडों में लिखा है। जायसी ने दोनों का मिश्रण किया है। पद्मावत की भाषा अवधी है। चौपाई नामक छंद का प्रयोग इसमें मिलता है। इनकी प्रबंध कुशलता कमाल की है। जायसी के महत्त्व के सम्बन्ध में बाबू गुलाबराय लिखते हैं–जायसी महान् कवि हैं, उनमें कवि के समस्त सहज गुण विद्मान हैं। उन्होंने सामयिक समस्या के लिए प्रेम की पीर की देन दी। उस पीर को उन्होंने शक्तिशाली महाकाव्य के द्वारा उपस्थित किया। वे अमर कवि है।

अखरावट

अखरावट सृष्टि की रचना को वर्ण्य विषय बनाया गया है। अखरावट के विषय में जायसी ने इसके काल का वर्णन कहीं नहीं किया है। सैय्यद कल्ब मुस्तफा के अनुसार यह जायसी की अंतिम रचना है।

आखिरी कलाम

'आखिरी कलाम' ग्रन्थ में इस्लामी मान्यता के अनुसार प्रलय का वर्णन है। जायसी रचित महान् ग्रंथ का सर्वप्रथम प्रकाशन फारसी लिपि में हुआ था। इस काव्य में जायसी ने मसनवी- शैली के अनुसार ईश्वर-स्तुति की है।

चित्ररेखा

यह भी एक प्रेमकथा है किन्तु 'पद्मावत' की तुलना में यह एक द्वितीय श्रेणी की रचना है। जायसी ने पद्मावत की ही भांति "चित्ररेखा' की शुरुआत

भी संसार के सृजनकर्ता की वंदना के साथ किया है। इसमें जायसी ने सृष्टि की उद्‌भव की कहानी कहते हुए करतार की प्रशंसा में बहुत कुछ लिखा है। इसके अलावा इसमें उन्होंने पैगम्बर मुहम्मद साहब और उनके चार मित्रों का वर्णन सुंदरता के साथ किया है। इस प्रशंसा के बाद जायसी ने इस काव्य की असल कथा आरंभ किया है।

कहरानामा

कहरानामा का रचना काल 947 हिजरी बताया गया है। यह काव्य ग्रंथ कहरवा या कहार गीत उत्तर प्रदेश की एक लोक- गीत पर आधारित में कवि ने कहरानामा के द्वारा संसार से डोली जाने की बात की है।

इनके अतिरिक्त 'महरी बाईसी' तथा 'मसलानामा' भी आपकी ही रचनाएँ मानी जाती हैं परन्तु जायसी की प्रसिद्धि का आधार तो 'पद्‌मावत' महाकाव्य ही है।

अन्य कृतियाँ

जायसी की मुख्य कृतियों के अलावा इनकी अतिरिक्त 'मसदा', 'कहरनामा', 'मुकहरानामा' व 'मुखरानामा', 'मुहरानामा', या 'होलीनामा', 'खुर्वानामा', 'संकरानामा', 'चम्पावत', 'मटकावत', 'इतरावत', 'लखरावत', 'मखरावत' या 'सुखरावत' 'लहरावत', 'नैनावात', 'घनावत', 'परमार्थ जायसी' और 'पुसीनामा' रचनाएँ भी जायसी की बतायी जाती हैं। किन्तु इनके विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है।

भाव पक्ष

जायसी रससिद्ध कवि हैं। आपके काव्य का भाव-पक्ष तथा कला-पक्ष दोनों ही समान रूप से प्रभावशाली हैं। आपकी रचनाओं की काव्यगत विशेषताएँ इस प्रकार हैं- जायसी ने भारतीय प्रेमाख्यानों को अपने काव्य का विषय बनाया और उनके माध्यम से आध्यात्मिक रहस्यों को प्रस्तुत किया। 'पद्‌मावत' काव्य के रूप में एक प्रेम कथा है किन्तु उसमें आत्मा-परमात्मा का मधुर सम्बन्ध तथा सूफी उपासना-पद्धति की विविध मान्यताएँ प्रतीकात्मक रूप में वर्णित हैं। 'पद्‌मावत' के रूपक-पक्ष को स्वयं कवि ने स्पष्ट किया है-

तन चितउर मन राजा कीन्हा। हिय सिंहल बुधि पद्मिनि चीन्हा
गुरु सुआ जेहि पंथ दिखावा। बिन गुरु जगत् को निरगुन पावा

भारतीय सौन्दर्य-वर्णन की परम्परागत शैली को ही जायसी ने अपनाया है। यह शैली 'नख-शिख वर्णन' कहलाती है। कवि ने पद्मावती के सौन्दर्य-वर्णन में अपने परम्परा-परिचय और मोहक बिम्ब-विधान का परिचय दिया है-

भँवर केस वह मालति रानी। बिसहर लुरहिं लेहिं अरघानी
ससि-मुख, अंग मलयगिरि बासा। नागिन झाँपि लीन्ह चहुँ पासा

प्रकृति-वर्णन की जायसी के काव्य में कमी है किन्तु वह शृंगार का सहायक होकर आया है। वह स्वतंत्र प्रकृति-चित्रण न होकर रस के उद्दीपन हेतु ही प्रयुक्त हुआ है, यथा

कातिक सरद चंद उजियारी। जग सीतल हौं बिरहै जारी
भा बैसाख तपनी अति लागी। चोआ चीर चँदन भा आगी।

आलंकारिक एवं नामपरिगणनात्मक प्रकार का प्रकृति-वर्णन भी 'पद्मावत' में विद्यमान है। जायसी का रहस्यवाद हिन्दी-साहित्य की अमूल्य निधि है। आंचलिक संस्पर्श एवं मानव-मनोविज्ञान के सहयोग से जायसी ने भारतीय नारी का भव्य चित्र उभारा है, यथा-

बरसै मेघ चुवहिं नैनाहा। छपर छपर होइ रहि बिनु नाहा
कोरौं कहाँ ठाट नव साजा। तुम बिनु कंत न छाजनि छाजा

जायसी सूफी सम्प्रदाय के अनुयायी हैं, जिसमें साधक प्रेम की साधना से ही साध्य को पा सकता है। यही पारलौकिक प्रेम जायसी के ग्रन्थों में लौकिक प्रेम बनकर अवतरित हुआ है। जीवात्मा के ईश्वर से मिलन का यह रूपक, रहस्य-भावना के साथ कवि ने प्रस्तुत किया है। आचार्य शुक्ल के मत में तो शुद्ध रहस्यवाद केवल जायसी के काव्य में ही प्राप्त होता है।

कला पक्ष

जायसी की रचनाओं में विविध रसों का समावेश बड़ी ही सफलता के साथ किया गया है। शृंगार के अतिरिक्त वीर, रौद्र, वीभत्स रसों का मार्मिक चित्रण भी जायसी की कविता में उपलब्ध है।

भाषा

जायसी की भाषा ठेठ अवधी है। उन्होंने उसके व्याकरण सम्मत स्वरूप पर विचार न करके उसमें माधुर्य और मृदुलता के संवर्द्धन पर ही अधिक ध्यान

दिया है। यही कारण है कि उसमें व्याकरण-सम्बन्धी अशुद्धियाँ हैं परन्तु श्रुति-माधुर्य और हृदय को छूने की अद्‌भुत शक्ति है।

शैली

जायसी ने प्रबन्ध शैली को अपने उद्देश्य के अधिक अनुकूल समझा। उन्होंने लोक-प्रचलित भारतीय प्रेमकथाओं का आधार लेकर महाकाव्य की रचना की और साथ ही विदेश मसनव्बी शैली को भी स्थान दिया। काव्य-रचना में आपने आलंकारिक शैली, प्रतीकात्मक शैली, शब्द चित्रात्मक शैली तथा अतिशयोक्ति-प्रधान शैलियों का प्रयोग किया है।

छंद

जायसी ने दोहा-चौपाई, छंदों का प्रयोग किया है। इसी छंद-योजना का चरम विकास तुलसी के 'रामचरितमानस' में प्राप्त होता है।

अलंकार

जायसी ने अलंकारों के प्रयोग में पूर्ण उदारता से काम लिया है। रूप-वर्णन, युद्ध, प्रकृति-चित्रण तथा आध्यात्मिक तत्वों की रहस्य-योजना में अलंकारों की पूरी सहायता ली गई है। आपके प्रिय अलंकारों में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, रूपकातिशयोक्ति आदि का विशेष रूप से प्रयोग हुआ है।

जायसी हिन्दी के प्रथम महाकाव्य के रचयिता हैं। आपकी रसमयी प्रेम-पद्धति हिन्दी काव्य साहित्य की मूल्यवान निधि है। एक साहित्यकार के रूप में तो आप प्रतिष्ठा-प्राप्त हैं ही, आपको साम्प्रदायिक सौमनस्य का संदेश-वाहक भी माना जाना चाहिए।

मृत्यु

मुहम्मद जायसी के जन्म की तरह ही इनकी मृत्यु के भी मतभेद मिले है। सैयद आले मुहम्मद मेहर जायसी ने किसी काजी सैयद हुसेन की अपनी नोटबुक में दी गयी जिस तारीख '5 रज्जब 949 हिजरी' (सन 1542 ई.) का मलिक मुहम्मद जायसी की मृत्यु तिथि के रूप में उल्लेख किया है, उसे भी तब तक स्वीकार नहीं किया जा सकता, जब तक उसका कहीं से समर्थन न हो जाए। कहा जाता है कि इनका देहांत अमेठी के आसपास के जंगलों में हुआ था। अमेठी के राजा ने इनकी समाधी बनवा दी, जो अभी भी है।

7

पद्मावत

पद्मावत एक प्रेमगाथा है, जो आध्यात्मिक स्वरूप में है। जायसी के महाकाव्य 'पद्मावत' की कथा प्रेममार्गी सूफी कवियों की भांति काल्पनिक न होकर रत्नसेन और पद्मावती (पद्मिनी) की प्रसिद्ध ऐतिहासिक कथा पर आधारित है। इस प्रेमगाथा में सिंहलद्वीप की राजकुमारी पद्मावती और चित्तौड़ के राजा रत्नसेन के प्रणय का वर्णन है। 'नागमती के विरह-वर्णन' में तो जायसी ने अपनी संवेदना गहन रूप से वर्णित की है। कथा का द्वितीय भाग ऐतिहासिक है, जिसमें चित्तौड़ पर अलाउद्दीन खिलजी के आक्रमण और 'पद्मावती के जौहर' का सजीव वर्णन है। 'पद्मावत' मसनवी शैली में रचित एक प्रबंध काव्य है। इस महाकाव्य में कुल 57 खंड हैं। इस महाकाव्य में पद्मावती एवं रत्नसेन की लौकिक प्रेम कहानी के द्वारा अलौकिक प्रेम की व्यंजना की गयी है। इस काव्य का प्रारम्भ काल्पनिक कथा से है और अंत इतिहास पर आधारित है। जायसी ने इतिहास और कल्पना, दोनों का मिश्रण किया है। जायसी ही लिखते हैं कि उन्होंने 'पद्मावत' की रचना 927 हिजरी में प्रारंभ की।

कथानक

कवि सिंहलद्वीप, उसके राजा गन्धर्वसेन, राजसभा, नगर, बगीचे इत्यादि का वर्णन करके पद्मावती के जन्म का उल्लेख करता है। राजभवन में 'हीरामन' नाम का एक अद्भुत सुआ था जिसे पद्मावती बहुत चाहती थी और सदा उसी

के पास रहकर अनेक प्रकार की बातें कहा करती थी। पद्मावती क्रमशः सयानी हुई और उसके रूप की ज्योति भूमण्डल में सबसे ऊपर हुई। जब उसका कहीं विवाह न हुआ तब वह रात दिन हीरामन से इसी बात की चर्चा किया करती थी। सूए ने एक दिन कहा कि यदि कहो तो देश देशान्तर में फिर कर मैं तुम्हारे योग्य वर ढूंढूं। राजा को जब इस बातचीत का पता लगा तब उसने क्रुद्ध होकर सूए को मार डालने की आज्ञा दी। पद्मावती ने विनती कर किसी प्रकार सूए के प्राण बचाए। सूए ने पद्मावती से विदा माँगी, पर पद्मावती ने प्रेम के मारे सूए को रोक लिया। सूआ उस समय तो रुक गया, पर उसके मन में खटका बना रहा।

सुए का बिकना

एक दिन पद्मावती सखियों को लिए हुए मानसरोवर में स्नान और जलक्रीड़ा करने गई। सूए ने सोचा कि अब यहाँ से चटपट चल देना चाहिए। वह वन की ओर उड़ा, जहाँ पक्षियों ने उसका बड़ा सत्कार किया। दस दिन पीछे एक बहेलिया हरी पत्तियों की टट्टी लिए उस वन में चला आ रहा था और पक्षी तो उस चलते पेड़ को देखकर उड़ गए पर हीरामन चारे के लोभ में वहीं रहा। अन्त में बहेलिये ने उसे पकड़ लिया और बाजार में उसे बेचने के लिए ले गया। चित्तौड़ के एक व्यापारी के साथ एक दीन ब्राह्मण भी कहीं से रुपये लेकर लोभ की आशा से सिंहल की हाट में आया था। उसने सूए को पण्डित देख मोल ले लिया और लेकर चित्तौड़ आया। चित्तौड़ में उस समय राजा चित्रसेन मर चुका था और उसका बेटा 'रत्नसेन' गद्दी पर बैठा था। प्रशंसा सुनकर रत्नसेन ने लाख रुपये देकर हीरामन सूए को मोल ले लिया।

मलिक मुहम्मद जायसी

सुए द्वारा पद्मावती का बखान

एक दिन रत्नसेन कहीं शिकार को गया था। उसकी रानी नागमती सूए के पास आई और बोली – 'मेरे समान सुन्दरी और भी कोई संसार में है?' इस पर सूआ हँसा और उसने सिंहल की पद्मिनी स्त्रियों का वर्णन करके कहा कि उनमें और तुममें दिन और अंधेरी रात का अन्तर है। रानी ने सोचा कि यदि यह तोता रहेगा तो किसी दिन राजा से भी ऐसा ही कहेगा और वह मुझसे प्रेम करना

छोड़कर पद्मावती के लिए जोगी होकर निकल पड़ेगा। उसने अपनी धाय से उसे ले जाकर मार डालने को कहा। धाय ने परिणाम सोचकर उसे मारा नहीं, छिपा रखा। जब राजा ने लौटकर सूए को न देखा तब उसने बड़ा कोप किया। अन्त में हीरामन उसके सामने लाया गया और उसने सब वृत्तान्त कह सुनाया। राजा को पद्मावती का रूप वर्णन सुनने की बड़ी उत्कण्ठा हुई और हीरामन ने उसके रूप का लम्बा चौड़ा वर्णन किया। उस वर्णन को सुन राजा बेसुध हो गया। उसके हृदय में ऐसा प्रबल अभिलाषा जागी कि वह रास्ता बताने के लिए हीरामन को साथ ले जोगी होकर घर से निकल पड़ा।

रत्नसेन का सिंहल जाना

उसके साथ सोलह हजार कुँवर भी जोगी होकर चले। मध्य प्रदेश के नाना दुर्गम स्थानों के बीच होते हुए सब लोग कलिंग देश में पहुँचे। वहाँ के राजा गजपति से जहाज लेकर रत्नसेन ने और सब जोगियों के सहित सिंहल द्वीप की ओर प्रस्थान किया। क्षार समुद्र, क्षीर समुद्र, दधि समुद्र, उदधि समुद्र, सुरा समुद्र और किलकिला समुद्र को पार करके वे सातवें 'मानसरोवर समुद्र' में पहुँचे जो सिंहलद्वीप के चारों ओर है। सिंहलद्वीप में उतरकर जोगी रत्नसेन तो अपने सब जोगियों के साथ महादेव के मन्दिर में बैठकर तप और पद्मावती का ध्यान करने लगा और हीरामन पद्मावती से भेंट करने गया। जाते समय वह रत्नसेन से कहता गया कि बसंत पंचमी के दिन पद्मावती इसी महादेव के मण्डप में वसन्तपूजा करने आएगी, उस समय तुम्हें उसका दर्शन होगा और तुम्हारी आशा पूर्ण होगी। बहुत दिन पर हीरामन को देख पद्मावती बहुत रोई। हीरामन ने अपने निकल भागने और बेचे जाने का वृत्तान्त कह सुनाया। इसके उपरान्त उसने रत्नसेन के रूप, कुल, ऐश्वर्य, तेज आदि की बड़ी प्रशंसा करके कहा कि वह सब प्रकार से तुम्हारे योग्य वर है और तुम्हारे प्रेम में जोगी होकर यहाँ तक आ पहुँचा है। पद्मावती ने उसकी प्रेमव्यथा सुनकर जयमाल देने की प्रतिज्ञा की और कहा कि वसन्त पंचमी के दिन पूजा के बहाने मैं उसे देखने जाऊँगी। सूआ यह समाचार लेकर राजा के पास मंडप में लौट आया।

वसन्त पंचमी पर पद्मावती और रत्नसेन का मिलना

वसन्त पंचमी के दिन पद्मावती सखियों के सहित मंडप में गई और उधर भी पहुँची जिधर रत्नसेन और उसके साथी जोगी थे। पर ज्यों ही रत्नसेन की आँखें

उस पर पड़ीं, वह मूर्च्छित होकर गिर पड़ा। पद्मावती ने रत्नसेन को सब प्रकार से वैसा ही पाया जैसा सूए ने कहा था। वह मूर्च्छित जोगी के पास पहुँची और उसे होश में लाने के लिए उस पर चन्दन छिड़का। जब वह न जागा तब चन्दन से उसके हृदय पर यह बात लिखकर वह चली गई कि 'जोगी, तूने भिक्षा प्राप्त करने योग्य योग नहीं सीखा, जब फलप्राप्ति का समय आया तब तू सो गया।'

पार्वती द्वारा रत्नसेन की परीक्षा लेना

राजा को जब होश आया तब वह बहुत पछताने लगा और जल कर मरने को तैयार हुआ। सब देवताओं को भय हुआ कि यदि कहीं यह जला तो इसकी घोर विरहाग्नि से सारे लोक भस्म हो जाएँगे। उन्होंने जाकर महादेव पार्वती के यहाँ पुकार की। महादेव कोढ़ी के वेश में बैल पर चढ़े राजा के पास आए और जलने का कारण पूछने लगे। इधर पार्वती की, जो महादेव के साथ आईं थीं, यह इच्छा हुई कि राजा के प्रेम की परीक्षा लें। ये अत्यन्त सुन्दरी अप्सरा का रूप धारणकर आईं और बोली – 'मुझे इन्द्र ने भेजा है। पद्मावती को जाने दे, तुझे अप्सरा प्राप्त हुई।' रत्नसेन ने कहा – 'मुझे पद्मावती को छोड़ और किसी से कुछ प्रयोजन नहीं।' पार्वती ने महादेव से कहा कि रत्नसेन का प्रेम सच्चा है। रत्नसेन ने देखा कि इस कोढ़ी की छाया नहीं पड़ती है, इसके शरीर पर मक्खियाँ नहीं बैठती हैं और इसकी पलकें नहीं गिरती हैं अतः यह निश्चय ही कोई सिद्ध पुरुष है। फिर महादेव को पहचानकर वह उनके पैरों पर गिर पड़ा। महादेव ने उसे सिद्धि गुटिका दी और सिंहलगढ़ में घुसने का मार्ग बताया। सिद्धि गुटिका पाकर रत्नसेन सब जोगियों को लिए सिंहलगढ़ पर चढ़ने लगा।

रत्नसेन का पकड़ा जाना

राजा गन्धर्वसेन के यहाँ जब यह खबर पहुँची तब उसने दूत भेजे। दूतों से जोगी रत्नसेन ने पद्मिनी के पाने का अभिप्राय कहा। दूत क्रुद्ध होकर लौट गए। इस बीच हीरामन रत्नसेन का प्रेमसन्देश लेकर पद्मावती के पास गया और पद्मावती का प्रेमभरा संदेश लाकर उसने रत्नसेन से कहा। इस सन्देश से रत्नसेन के शरीर में और भी बल आ गया। गढ़ के भीतर जो अगाध कुण्ड था वह रात को उसमें धँसा और भीतरी द्वार को, जिसमें वज्र के किवाड़ लगे थे, उसने जा खोला। पर इस बीच सवेरा हो गया और वह अपने साथी जोगियों के सहित घेर लिया गया। राजा गन्धर्वसेन के यहाँ विचार हुआ कि जोगियों को पकड़कर सूली

दे दी जाय। दल बल के सहित सब सरदारों ने जोगियों पर चढ़ाई की। रत्नसेन के साथी युद्ध के लिए उत्सुक हुए पर रत्नसेन ने उन्हें यह उपदेश देकर शान्त किया कि प्रेममार्ग में क्रोध करना उचित नहीं। अन्त में सब जोगियों सहित रत्नसेन पकड़ा गया। इधर यह सब समाचार सुन पद्मावती की बुरी दशा हो रही थी। हीरामन सूए ने जाकर उसे धीरज बँधाया कि रत्नसेन पूर्ण सिद्ध हो गया है, वह मर नहीं सकता।

युद्ध और रत्नसेन का पद्मिनी से विवाह

जब रत्नसेन को बाँधकर सूली देने के लिए लाए तब जिसने उसे देखा सबने कहा कि यह कोई राजपुत्र जान पड़ता है। इधर सूली की तैयारी हो रही थी, उधर रत्नसेन पद्मावती का नाम रट रहा था। महादेव ने जब जोगी पर ऐसा संकट देखा तब वे और पार्वती भाट भाटिनी का रूप धरकर वहाँ पहुँचे। इस बीच हीरामन सूआ भी रत्नसेन के पास पद्मावती का यह संदेश लेकर आया कि 'मैं भी हथेली पर प्राण लिए बैठी हूँ, मेरा जीना मरना तुम्हारे साथ है।' भाट (जो वास्तव में महादेव थे) ने राजा गन्धर्वसेन को बहुत समझाया कि यह जोगी नहीं राजा और तुम्हारी कन्या के योग्य वर है, पर राजा इस पर और भी क्रुद्ध हुआ। इस बीच जोगियों का दल चारों ओर से लड़ाई के लिए चढ़ा। महादेव के साथ हनुमान आदि सब देवता जोगियों की सहायता के लिए आ खड़े हुए। गन्धर्वसेन की सेना के हाथियों का समूह जब आगे बढ़ा तब हनुमान जी ने अपनी लम्बी पूँछ में सबको लपेटकर आकाश में फेंक दिया। राजा गन्धर्वसेन को फिर महादेव का घण्टा और विष्णु का शंख जोगियों की ओर सुनाई पड़ा और साक्षात शिव युद्धस्थल में दिखाई पड़े। यह देखते ही गन्धर्वसेन महादेव के चरणों पर जा गिरा और बोला – 'कन्या आपकी है, जिसे चाहिए उसे दीजिए'। इसके उपरान्त हीरामन सूए ने आकर राजा रत्नसेन के चित्तौड़ से आने का सब वृत्तान्त कह सुनाया और गन्धर्वसेन ने बड़ी धूमधाम से रत्नसेन के साथ पद्मावती का विवाह कर दिया। रत्नसेन के साथी जो सोलह हजार कुँवर थे उन सबका विवाह भी पद्मिनी स्त्रियों के साथ हो गया और सब लोग बड़े आनन्द के साथ कुछ दिनों तक सिंहल में रहे।

नागमती का विरह

इधर चित्तौड़ में वियोगिनी नागमती को राजा की बाट जोहते एक वर्ष हो गया। उसके विलाप से पशु पक्षी विकल हो गए। अन्त में आधी रात को एक

पक्षी ने नागमती के दु:ख का कारण पूछा। नागमती ने उससे रत्नसेन के पास पहुँचाने के लिए अपना संदेसा कहा। वह पक्षी नागमती का संदेसा लेकर सिंहलद्वीप गया और समुद्र के किनारे एक पेड़ पर बैठा। संयोग से रत्नसेन शिकार खेलते-खेलते उसी पेड़ के नीचे जा खड़ा हुआ। पक्षी ने पेड़ पर से नागमती की दु:ख कथा और चित्तौड़ की हीन दशा का वर्णन किया। रत्नसेन का जी सिंहल से उचटा और उसने स्वदेश की ओर प्रस्थान किया। चलते समय उसे सिंहल के राजा के यहाँ से विदाई में बहुत सा सामान और धन मिला। इतनी अधिक सम्पत्ति देख राजा के मन में गर्व और लोभ हुआ। वह सोचने लगा कि इतना अधिक धन लेकर यदि मैं स्वदेश पहुँचा तो फिर मेरे समान संसार में कौन है। इस प्रकार लोभ ने राजा को आ घेरा।

समुद्र का क्रोध

समुद्रतट पर जब रत्नसेन आया तब समुद्र याचक का रूप धरकर राजा से दान माँगने आया, पर राजा ने लोभवश उसका तिरस्कार कर दिया। राजा आधे समुद्र में भी नहीं पहुँचा था कि बड़े जोर का तूफान आया जिससे जहाज दक्खिन लंका की ओर बह गए। वहाँ विभीषण का एक राक्षस माँझी मछली मार रहा था। वह अच्छा आहार देख राजा से आकर बोला कि चलो हम तुम्हें रास्ते पर लगा दें। राजा उसकी बातों में आ गया। वह राक्षस सब जहाजों को एक भयंकर समुद्र में ले गया जहाँ से निकलना कठिन था। जहाज चक्कर खाने लगे और हाथी, घोड़े, मनुष्य आदि डूबने लगे। वह राक्षस आनन्द से नाचने लगा। इस बीच समुद्र का राजपक्षी वहाँ आ पहुँचा जिसके डैनों का ऐसा घोर शब्द हुआ मानो पहाड़ के शिखर टूट रहे हों। वह पक्षी उस दुष्ट राक्षस को चंगुल में दबाकर उड़ गया। जहाज के एक तख्ते पर एक ओर राजा बहा और दूसरे तख्ते पर दूसरी ओर रानी।

पद्मावती का विलाप

पद्मावती बहते-बहते वहाँ जा लगी जहाँ समुद्र की कन्या लक्ष्मी अपनी सहेलियों के साथ खेल रही थी। लक्ष्मी मूर्च्छित पद्मावती को अपने घर ले गई। पद्मावती को जब चेत हुआ तब वह रत्नसेन के लिए विलाप करने लगी। लक्ष्मी ने उसे धीरज बँधाया और अपने पिता समुद्र से राजा की खोज कराने का वचन दिया। इधर राजा बहते बहते एक ऐसे निर्जन स्थान में पहुँचा जहाँ मूँगों के टीलों के सिवा और कुछ न था। राजा पद्मिनी के लिए बहुत विलाप करने लगा और

कटार लेकर अपने गले में मारना ही चाहता था कि ब्राह्मण का रूप धरकर समुद्र उसके सामने आ खड़ा हुआ और उसे मरने से रोका। अन्त में समुद्र ने राजा से कहा कि तुम मेरी लाठी पकड़कर आँख मूँद लो, मैं तुम्हें जहाँ पद्मावती है उसी तट पर पहुँचा दूँगा।

लक्ष्मी द्वारा रत्नसेन की परीक्षा

जब राजा उस तट पर पहुँच गया तब लक्ष्मी उसकी परीक्षा लेने के लिए पद्मावती का रूप धारण कर रास्ते में जा बैठीं। रत्नसेन उन्हें पद्मावती समझ उनकी ओर लपका। पास जाने पर वे कहने लगी– 'मैं पद्मावती हूँ।' पर रत्नसेन ने देखा कि यह पद्मावती नहीं है, तब चट मुँह फेर लिया। अन्त में लक्ष्मी रत्नसेन को पद्मावती के पास ले गईं। रत्नसेन और पद्मावती कई दिनों तक समुद्र और लक्ष्मी के मेहमान रहे। पद्मावती की प्रार्थना पर लक्ष्मी ने उन सब साथियों को भी ला खड़ा किया जो इधर उधर बह गए थे। जो मर गए थे वे भी अमृत से जीवित किए गए। इस प्रकार बड़े आनन्द से दोनों वहाँ से विदा हुए। विदा होते समय समुद्र ने बहुत से अमूल्य रत्न दिए। सबसे बढ़कर पाँच पदार्थ दिए–

- अमृत,
- हंस,
- राजपक्षी,
- शार्दूल और,
- पारस पत्थर।

इन सब अनमोल पदार्थों को लिए अन्त में रत्नसेन और पद्मावती चित्तौड़ पहुँच गए। नागमती और पद्मावती दोनों रानियों के साथ रत्नसेन सुखपूर्वक रहने लगे। नागमती से नागसेन और पद्मावती से कमलसेन ये दो पुत्र राजा को हुए।

राघव को देश निकाला

चित्तौड़गढ़ की राजसभा में राघवचेतन नाम का एक पण्डित था जिसे यक्षिणी सिद्ध थी। एक दिन राजा ने पण्डितों से पूछा, 'दूज कब है?' राघव के मुँह से निकला 'आज'। और सब पण्डितों ने एक स्वर से कहा कि 'आज नहीं हो सकती, कल होगी।' राघव ने कहा 'कि यदि आज दूज न हो तो मैं पण्डित नहीं।' पण्डितों ने कहा कि 'राघव वाममार्गी है, यक्षिणी की पूजा करता है, जो चाहे सो कर दिखावे, पर आज दूज नहीं हो सकती।' राघव ने यक्षिणी के प्रभाव

से उसी दिन संध्या के समय द्वितीया का चन्द्रमा दिखा दिया।' पर जब दूसरे दिन चन्द्रमा देखा गया तब वह द्वितीया का ही चन्द्रमा था। इस पर पण्डितों ने राजा रत्नसेन से कहा – 'देखिए, यदि कल द्वितीया रही होती, तो आज चन्द्रमा की कला कुछ अधिक होती, झूठ और सच की परख कर लीजिए।' राघव का भेद खुल गया और वह वेद विरुद्ध आचार करने वाला प्रमाणित हुआ। राजा रत्नसेन ने उसे देश निकाले का दण्ड दिया।

राघव का बदला

पद्मावती ने जब यह सुना तब उसने ऐसे गुणी पण्डित का असन्तुष्ट होकर जाना राज्य के लिए अच्छा नहीं समझा। उसने भारी दान देकर राघव को प्रसन्न करना चाहा। सूर्यग्रहण का दान देने के लिए उसने उसे बुलाया। जब राघव महल के नीचे आया तब पद्मावती ने अपने हाथ का एक अमूल्य कंगन, जिसका जोड़ा और कहीं दुष्प्राप्य था, झरोखे पर से फेंका। झरोखे पर पद्मावती की झलक देख राघव बेसुध होकर गिर पड़ा। जब उसे चेत हुआ तब उसने सोचा कि अब यह कंगन लेकर बादशाह के पास दिल्ली चलूँ और पद्मिनी के रूप का उसके सामने वर्णन करूँ। वह लम्पट है, तुरन्त चित्तौड़ पर चढ़ाई करेगा और इसके जोड़ का दूसरा कंगन भी मुझे इनाम देगा। यदि ऐसा हुआ तो राजा से मैं बदला भी ले लूँगा और सुख से जीवन भी बिताऊँगा।

अलाउद्दीन द्वारा चढ़ाई और संधि

यह सोचकर राघव दिल्ली पहुँचा और वहाँ बादशाह अलाउद्दीन को कंगन दिखाकर उसने पद्मिनी के रूप का वर्णन किया। अलाउद्दीन ने बड़े आदर से उसे अपने यहाँ रखा और 'सरजा' नामक एक दूत के हाथ एक पत्र रत्नसेन के पास भेजा कि पद्मिनी को तुरन्त भेज दो, बदले में और जितना राज्य चाहो ले लो। पत्र पाते ही राजा रत्नसेन क्रोध से लाल हो गया और बिगड़कर दूत को वापस कर दिया। अलाउद्दीन ने चित्तौड़ गढ़ पर चढ़ाई कर दी। आठ वर्ष तक मुसलमान चित्तौड़ को घेरे रहे और घोर युद्ध होता रहा, पर गढ़ न टूट सका। इसी बीच दिल्ली से एक पत्र अलाउद्दीन को मिला जिसमें हरेव लोगों के फिर से चढ़ आने का समाचार लिखा था। बादशाह ने जब यह देखा कि गढ़ नहीं टूटता है तब उसने कपट की एक चाल सोची। उसने रत्नसेन के पास सन्धि का एक प्रस्ताव भेजा और यह कहलाया कि मुझे पद्मिनी नहीं चाहिए, समुद्र से जो पाँच अमूल्य वस्तुएँ तुम्हें मिली हैं उन्हें देकर मेल कर लो।

नीतिज्ञों द्वारा विरोध

राजा ने स्वीकार कर लिया और बादशाह को चित्तौड़गढ़ के भीतर ले जाकर बड़ी धूमधाम से उसकी दावत की। गोरा बादल नामक विश्वासपात्र सरदारों ने राजा को बहुत समझाया कि मुसलमानों का विश्वास करना ठीक नहीं, पर राजा ने ध्यान न दिया। वे दोनों वीर नीतिज्ञ सरदार रूठकर अपने घर चले गए। कई दिनों तक बादशाह की मेहमानदारी होती रही। एक दिन वह टहलते टहलते पद्मिनी के महल की ओर भी जा निकला, जहाँ एक से एक रूपवती स्त्रियाँ स्वागत के लिए खड़ी थीं। बादशाह ने राघव से, जो बराबर उसके साथ-साथ था, पूछा कि 'इनमें पद्मिनी कौन है?' राघव ने कहा, 'पद्मिनी इनमें कहाँ? ये तो उसकी दासियाँ हैं।' बादशाह पद्मिनी के महल के सामने ही एक स्थान पर बैठकर राजा के साथ शतरंज खेलने लगा। जहाँ वह बैठा था वहाँ उसने एक दर्पण भी रख दिया था कि पद्मिनी यदि झरोखे पर आवेगी तो उसका प्रतिबिम्ब दर्पण में देखूँगा। पद्मिनी कुतूहलवश झरोखे के पास आई और बादशाह ने उसका प्रतिबिम्ब दर्पण में देखा। देखते ही वह बेहोश होकर गिर पड़ा।

रत्नसेन को पकड़कर दिल्ली ले जाना

अन्त में बादशाह ने राजा से विदा माँगी। राजा उसे पहुँचाने के लिए साथ-साथ चला। एक-एक फाटक पर बादशाह राजा को कुछ न कुछ देता चला। अन्तिम फाटक पार होते ही राघव के इशारे से बादशाह ने रत्नसेन को पकड़ लिया और बाँधकर दिल्ली ले गया। वहाँ राजा को तंग कोठरी में बन्द करके वह अनेक प्रकार के भयंकर कष्ट देने लगा। इधर चित्तौड़ में हाहाकार मच गया। दोनों रानियाँ रो रोकर प्राण देने लगीं। इस अवसर पर राजा रत्नसेन के शत्रु कुम्भलनेर के राजा देवपाल को दुष्टता सूझी। उसने कुमुदनी नाम की दूती को पद्मावती के पास भेजा। पहले तो पद्मिनी अपने मायके की स्त्री सुनकर बड़े प्रेम से मिली और उससे अपना दुःख कहने लगी, पर जब धीरे-धीरे उसका भेद खुला तब उसने उचित दण्ड देकर उसे निकलवा दिया। इसके पीछे अलाउद्दीन ने भी जोगिन के वेश में एक दूती इस आशा से भेजी कि वह रत्नसेन से भेंट कराने के बहाने पद्मिनी को जोगिन बनाकर अपने साथ दिल्ली लाएगी। पर उसकी दाल भी न गली।

गोरा बादल

अन्त में पद्मिनी गोरा और बादल के घर गई और उन दोनों क्षत्रिय वीरों के सामने अपना दु:ख रोकर उसने उनसे राजा को छुड़ाने की प्रार्थना की। दोनों ने राजा को छुड़ाने की दृढ़ प्रतिज्ञा की और रानी को बहुत धीरज बँधाया। दोनों ने सोचा कि जिस प्रकार मुसलमानों ने धोखा दिया है उसी प्रकार उनके साथ भी चाल चलनी चाहिए। उन्होंने सोलह सौ ढकी पालकियों के भीतर सशस्त्र राजपूत सरदारों को बिठाया और जो सबसे उत्तम और बहुमूल्य पालकी थी उसके भीतर औजार के साथ एक लोहार को बिठाया। इस प्रकार वे यह प्रसिद्ध करके चले कि सोलह सौ दासियों के सहित पद्मिनी दिल्ली जा रही हैं।

गोरा बादल का रत्नसेन को छुड़ाना

गोरा के पुत्र बादल की अवस्था बहुत थोड़ी थी। जिस दिन दिल्ली जाना था उसी दिन उसका गौना आया था। उसकी नवागता वधू ने उसे युद्ध में जाने से बहुत रोका पर उस वीर कुमार ने एक न सुनी। अन्त में सोलह सौ सवारियों के सहित वे दिल्ली के किले में पहुँचे। वहाँ कर्मचारियों को घूस देकर अपने अनुकूल किया जिससे किसी ने पालकियों की तलाशी न ली। बादशाह के यहाँ खबर गई कि पद्मिनी आई है और कहती है कि राजा से मिल लूँ और उन्हें चित्तौड़ के खजाने की कुंजी सुपुर्द कर दूँ तब महल में जाऊँ। बादशाह ने आज्ञा दे दी। वह सजी हुई पालकी वहाँ पहुँचाई गई जहाँ राजा रत्नसेन कैद था। पालकी में से निकलकर लोहार ने चट राजा की बेड़ी काट दी और वह शस्त्र लेकर एक घोड़े पर सवार हो गया जो पहले से तैयार था। देखते देखते और हथियारबन्द सरदार भी पालकियों में से निकल पड़े। इस प्रकार गोरा और बादल राजा को छुड़ाकर चित्तौड़गढ़ चले।

रत्नसेन का बदला लेना और शहीद होना

बादशाह ने जब सुना तब अपनी सेना सहित पीछा किया। गोरा बादल ने जब शाही फौज पीछे देखी तब एक हजार सैनिकों को लेकर गोरा तो शाही फौज को रोकने के लिए डट गया और बादल राजा रत्नसेन को लेकर चित्तौड़ की ओर बढ़ा। वृद्ध वीर गोरा बड़ी वीरता से लड़कर और हजारों को मारकर अन्त में 'सरजा' के हाथ से मारा गया। इस बीच में राजा रत्नसेन चित्तौड़ पहुँच गया। पहुँचते ही उसी दिन रात को पद्मिनी के मुँह से रत्नसेन ने जब देवपाल की

दुष्टता का हाल सुना तब उसने उसे बाँध लाने की प्रतिज्ञा की। सबेरा होते ही रत्नसेन ने कुम्भलनेर पर चढ़ाई कर दी। रत्नसेन और देवपाल के बीच द्वन्द्व युद्ध हुआ। देवपाल की साँग रत्नसेन की नाभि में घुसकर उस पार निकल गई। देवपाल साँग मारकर लौटना ही चाहता था कि रत्नसेन ने उसे जा पकड़ा और उसका सिर काटकर उसके हाथ-पैर बाँधें। इस प्रकार अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर और चित्तौड़गढ़ की रक्षा का भार 'बादल' को सौंप रत्नसेन ने शरीर छोड़ा।

रानियों का सती होना

राजा के शव को लेकर पद्मावती और नागमती दोनों रानियाँ सती हो गईं। इतने में शाही सेना चित्तौड़गढ़ आ पहुँची। बादशाह ने पद्मिनी के सती होने का समाचार सुना। बादल ने प्राण रहते गढ़ की रक्षा की पर अन्त में वह फाटक की लड़ाई में मारा गया और चित्तौड़गढ़ पर मुसलमानों का अधिकार हो गया।

पद्मावत की ऐतिहासिकता

पद्मावत की सम्पूर्ण आख्यायिका को हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं–

पूर्वार्द्ध

रत्नसेन की सिंहलद्वीप यात्रा से लेकर चित्तौड़ लौटने तक हम कथा का पूर्वार्ध मान सकते हैं। पूर्वार्ध एक कल्पित कहानी है।

उत्तरार्ध

राघव के निकाले जाने से लेकर पद्मिनी के सती होने तक उत्तरार्ध। उत्तरार्ध ऐतिहासिक आधार पर है।

टॉड के अनुसार – 'अलाउद्दीन ने संवत 1346 में फिर चित्तौड़गढ़ पर चढ़ाई की। इसी दूसरी चढ़ाई में राणा अपने ग्यारह पुत्रों सहित मारे गए। जब राणा के ग्यारह पुत्र मारे जा चुके और स्वयं राणा के युद्धक्षेत्र में जाने की बारी आई तब पद्मिनी ने जौहर किया। कई सौ राजपूत ललनाओं के साथ पद्मिनी ने चित्तौड़गढ़ के उस गुप्त भूधारे में प्रवेश किया जहाँ उन सती स्त्रियों को अपनी गोद में लेने के लिए आग दहक रही थी। इधर यह कांड समाप्त हुआ उधर वीर भीमसी ने रणक्षेत्र में शरीरत्याग किया।' टाड ने जो वृत्तान्त दिया है वह राजपूताने में रक्षित चारणों के इतिहासों के आधार पर है।

ठीक यही वृत्तान्त 'आइना ए अकबरी' में दिया हुआ है। 'आइना ए अकबरी' में भीमसी के स्थान पर रतनसी (रत्नसिंह या रत्नसेन) नाम है।

इन दोनों ऐतिहासिक वृत्तान्तों के साथ जायसी द्वारा वर्णित कथा का मिलान करने से कई बातों का पता चलता है। पहली बात तो यह है कि जायसी ने जो 'रत्नसेन' नाम दिया है यह उनका कल्पित नहीं है, क्योंकि प्रायः उनके समसामयिक या थोड़े ही पीछे के ग्रन्थ 'आइने अकबरी' में भी यही नाम आया था। यह नाम अवश्य इतिहासज्ञों में प्रसिद्ध था।

जायसी ने रत्नसेन का मुसलमानों के हाथ से मारा जाना न लिखकर जो देवपाल के साथ द्वन्द्वयुद्ध में कुम्भलनेरगढ़ के नीचे मारा जाना लिखा है उसका आधार शायद विश्वासघाती के साथ बादशाह से मिलने जाने वाला वह प्रवाद हो जिसका उल्लेख आइने अकबरीकार ने किया है।

उत्तर भारत में प्रचलित कथा

अब 'पद्मावत' की पूर्वार्ध कथा जायसी द्वारा कल्पित है अथवा जायसी के पहले से कहानी के रूप में जनसाधारण के बीच प्रचलित चली आती है। उत्तर भारत में, विशेषतः अवध में, 'पद्मिनी रानी और हीरामन सूए' की कहानी अब तक प्रायः उसी रूप में कही जाती है जिस रूप में जायसी ने उसका वर्णन किया है।

जायसी इतिहासविज्ञ थे इससे उन्होंने रत्नसेन, अलाउद्दीन आदि नाम दिए हैं, पर कहानी कहने वाले नाम नहीं लेते हैं, केवल यही कहते हैं कि 'एक राजा था', 'दिल्ली का एक बादशाह था', इत्यादि। यह कहानी बीच बीच में गा गाकर कही जाती है। जैसे, राजा की पहली रानी जब दर्पण में अपना मुँह देखती है तब सूए से पूछती है–

देस देस तुम फिरौ हो सुअटा। मोरे रूप और कहु कोई

सूआ उत्तर देता है

काह बखानौं सिंहल के रानी। तोरे रूप भरै सब पानी

अनुमान है कि जायसी ने प्रचलित कहानी को ही लेकर सूक्ष्म ब्योरों की मनोहर कल्पना करके, इसे काव्य का सुन्दर स्वरूप दिया है। इस मनोहर कहानी को कई लोगों ने काव्य के रूप में बाँधा।

हुसैन गजनवी ने 'किस्सा ए पद्मावत' नाम का एक फारसी काव्य लिखा।

सन् 1652 ई. में रायगोविंद मुंशी ने पद्मावती की कहानी फारसी गद्य में 'तुकफतुल कुलूब' के नाम से लिखी।

उसके बाद मीर जियाउद्दीन 'इब्रत' और गुलामअली 'इशरत' ने मिलकर सन् 1769 ई. में उर्दू शेरों में इस कहानी को लिखा।

मलिक मुहम्मद जायसी ने अपनी पद्मावत सन् 1520 ई. में लिखी थी।

'पद्मावत' की प्रेमपद्धति

वासुदेव शरण अग्रवाल द्वारा पद्मावत की व्याख्या

'पद्मावत' एक प्रेम कहानी है। अब संक्षेप में यह देखना चाहिए कि कवियों में दाम्पत्य प्रेम का आविर्भाव वर्णन करने की जो प्रणालियाँ प्रचलित हैं उनमें से 'पद्मावत' में वर्णित प्रेम किसके अन्तर्गत जाता है।

जायसी के शृंगार में मानसिक पक्ष प्रधान है, शारीरिक गौण है। चुम्बन, आलिंगन आदि का वर्णन कवि ने बहुत कम किया है, केवल मन के उल्लास और वेदना का कथन अधिक किया है। प्रयत्न नायक की ओर से है और उसकी कठिनता द्वारा कवि ने नायक के प्रेम को नापा है। नायक का यह आदर्श लैला मजनूं, शीरीं फरहाद आदि अरबी फारसी कहानियों के आदर्श से मिलता जुलता है

भारतीय प्रेमपद्धति आदि में तो लोकसम्बद्ध और व्यवहारात्मक थी ही, पीछे भी अधिकतर वैसी ही रही। आदिकवि के काव्य में प्रेम लोकव्यवहार से कहीं अलग नहीं दिखाया गया है, जीवन के और विभागों के सौन्दर्य के बीच उसके सौन्दर्य की प्रभा फूटती दिखाई पड़ती है।

जायसी ने यद्यपि इश्क के दास्तानवाली मसनवियों के प्रेम के स्वरूप को प्रधान रखा है पर बीच बीच में भारत के लोक व्यवहार संलग्न स्वरूप का भी मेल किया है। इश्क की मसनवियों के समान 'पदमावत' लोकपक्षशून्य नहीं है। राजा जोगी होकर घर से निकलता है, इतना कहकर कवि यह भी कहता है कि चलते समय उसकी माता और रानी दोनों उसे रो रोकर रोकती हैं। जैसे कवि ने राजा से संयोग होने पर पद्मावती के रसरंग का वर्णन किया वैसे ही सिंहलद्वीप से विदा होते समय परिजनों और सखियों से अलग होने का स्वाभाविक दु:ख भी। कवि ने जगह-जगह पद्मावती को जैसे चन्द्र, कमल इत्यादि के रूप में देखा है, वैसे ही उसे प्रथम समागम से डरते, सपत्नी से झगड़ते और प्रिय के हित के अनुकूल लोकव्यवहार करते भी देखा है।

राघवचेतन के निकाले जाने पर राजा और राज्य के अनिष्ट की आशंका से पद्मावती उस ब्राह्मण को अपना खास कंगन दान देकर सन्तुष्ट करना चाहती है। लोकव्यवहार के बीच भी अपनी आभा का प्रसार करने वाली प्रेमज्योति का महत्त्व कुछ कम नहीं।

जायसी ऐकान्तिक प्रेम की गूढ़ता और गम्भीरता के बीच में जीवन के और अंगों के साथ भी उस प्रेम के सम्पर्क का स्वरूप कुछ दिखाते गए हैं, इससे उनकी प्रेमगाथा पारिवारिक और सामाजिक जीवन से विच्छिन्न होने से बच गई है। पर है वह प्रेमगाथा ही, पूर्ण जीवनगाथा नहीं। ग्रन्थ का पूर्वार्ध–आधे से अधिक भाग–तो प्रेममार्ग के विवरण से ही भरा है। उत्तरार्ध में जीवन के और अंगों का सन्निवेश मिलता है पर वे पूर्णतया परिस्फुट नहीं हैं। इसमें भावात्मक और व्यवहारात्मक दोनों शैलियों का मेल है।

दाम्पत्य प्रेम के अतिरिक्त मनुष्य की और वृत्तियाँ, जिनका कुछ विस्तार के साथ समावेश है, वे यात्रा, युद्ध, सपत्नीकलह, मातृस्नेह, स्वामिभक्ति, वीरता, छल और सतीत्व हैं। पर इनके होते हुए भी 'पद्मावत' को हम शृंगार रस प्रधान काव्य ही कह सकते हैं। 'रामचरित' के समान मनुष्य जीवन की भिन्न–भिन्न बहुत सी परिस्थितियों और संबंधों का इसमें समन्वय नहीं है।

रूपलोभ और प्रेमलक्षण

राजा रत्नसेन तोते के मुँह से पद्मावती का अलौकिक रूपवर्णन सुन जिस भाव की प्रेरणा से निकल पड़ता है वह पहले रूपलोभ ही कहा जा सकता है। प्रेमलक्षण उसी समय दिखाई पड़ता है जब वह शिवमन्दिर में पद्मावती की झलक देख बेसुध हो जाता है। इस प्रेम की पूर्णता उस समय स्फुट होती है जब पार्वती अप्सरा का रूप धारण करके उसके सामने आती हैं और वह उनके रूप की ओर ध्यान न देकर कहता है कि–

भलेहि रंग अछरी तोर राता। मोहि दूसरे सौं भाव न बाता

उक्त कथन से रूपलोभ की व्यंजना नहीं होती, प्रेम की व्यंजना होती है।

जायसी के वर्णन में संयोग और वियोग दोनों का मिश्रण है। रत्नसेन का नाम तक सुनने के पहले वियोग की व्याकुलता कैसे हुई, इसका समाधान कवि के पास यदि कुछ है तो रत्नसेन के योग का अलक्ष्य प्रभाव–

पदमावति तेहि जोग सँजोगा। परी प्रेम बस गहे वियोगा

नागमती का प्रेम

साधनात्मक रहस्यवाद में योग जिस प्रकार अज्ञात ईश्वर के प्रति होता है उसी प्रकार सूफियों का प्रेमयोग भी अज्ञात के प्रति होता है। पद्मावती के नवप्रस्फुटित प्रेम के साथ साथ नागमती का गार्हस्थ्य परिपुष्ट प्रेम भी अत्यन्त मनोहर है। पद्मावती प्रेमिका के रूप में अधिक लक्षित होती है, पर नागमती पतिप्राण हिन्दू पत्नी के मधुर रूप में ही हमारे सामने आती है। उसे पहले पहल हम रूपगर्विता और प्रेमगर्विता के रूप में देखते हैं। ये दोनों प्रकार के गर्व दाम्पत्य सुख के द्योतक हैं।

नागमती का वियोग

जायसी के भावुक हृदय ने स्वकीया के पुनीत प्रेम के सौन्दर्य को पहचाना। नागमती का वियोग हिन्दी साहित्य में विप्रलम्भ शृंगार का अत्यन्त उत्कृष्ट निरूपण है। पुरुषों के बहुविवाह की प्रथा से उत्पन्न प्रेममार्ग की व्यावहारिक जटिलता को जिस दार्शनिक ढंग से कवि ने सुलझाया है वह ध्यान देने योग्य है। नागमती और पद्मावती को झगड़ते सुनकर दक्षिण नायक राजा रत्नसेन दोनों को समझाता है–

एक बार जेइ प्रिय मन बूझा। सो दुसरे सौं काहे क जूझा।
ऐस ज्ञान मन जान न कोई। कबहूँ राति, कबहूँ दिन होई॥
धूप छाँह दूनौ एक रंगा। दूनों मिले रहहिं एक संगा।
जूझब छाँड़हु, बूझहु दोऊ। सेव करहु, सेवाफल होऊ॥

ऊपर की चौपाइयों में पति पत्नी के पारस्परिक प्रेमसम्बन्धों की बात बचाकर सेव्य–सेवक भाव पर जोर दिया गया है। इसी प्रकार की युक्तियों से पुरानी रीतियों का समर्थन प्रायः किया जाता है। हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों में कई स्त्रियों से विवाह करने की रीति बराबर से है। अतः एक प्रेमगाथा के भीतर भी जायसी ने उसका सन्निवेश करके बड़े कौशल से उसके द्वारा मत सम्बन्धी विवाद शान्ति का उपदेश निकाला है।

शैली

जायसी ने इस महाकाव्य की रचना दोहा–चौपाइयों में की है। जायसी संस्कृत, अरबी एवं फारसी के ज्ञाता थे, फिर भी उन्होंने अपने ग्रंथ की रचना ठेठ अवधी भाषा में की। इसी भाषा एवं शैली का प्रयोग बाद में गोस्वामी

तुलसीदासजी ने अपने ग्रंथरत्न 'रामचरित मानस' में किया। पद्मावत की भाषा अवधी है। चौपाई नामक छंद का प्रयोग इसमे मिलता है। इनकी प्रबंध कुशलता कमाल की है। जायसी के महत्त्व के सम्बन्ध में बाबू गुलाबराय लिखते हैं -

"जायसी महान् कवि है, उनमें कवि के समस्त सहज गुण विद्मान है। उन्होंने सामयिक समस्या के लिए प्रेम की पीर की देन दी। उस पीर को उन्होंने शक्तिशाली महाकाव्य के द्वारा उपस्थित किया। वे अमर कवि हैं।"

जायसी ने 'पद्मावत' के माध्यम से हिन्दू और मुसलमानों की पृथक् संस्कृतियों, धर्मों, मान्यताओं एवं परंपराओं के बीच समन्वय तथा प्रेम का निर्झर प्रवाहित किया। वैष्णवों के ईश्वरोन्मुख प्रेम एवं सूफियों के रहस्यवाद को जायसी ने मिला दिया है। 'पद्मावत' जायसी की काव्य-कला का उत्कृष्ट उदाहरण है। हिन्दी के महाकाव्यों में तुलसीकृत 'रामचरित मानस' के बाद 'पद्मावत' की समकक्षता में कोई भी ग्रंथ नहीं ठहरता। साहित्यिक रहस्यवाद एवं दार्शनिक सौन्दर्य से परिपुष्ट जायसी की यह कृति उनकी कीर्ति को अमर रखेगी, इसमें संदेह नहीं है। उनकी दूसरी प्रसिद्ध पुस्तक 'अखरावट' है, जिसमें वर्णमाला के एक-एक अक्षर पर सूफी सिद्धांतों से संबंधित बातों का विवेचन है। 'आखिरी कलाम' में मृत्यु के बाद जीव की दशा तथा कयामत के अंतिम न्याय का वर्णन है।

निधन

रामचंद्र शुक्ल ने काजी नसीरूद्दीन हुसैन जायसी के आधार पर जायसी का मृत्यु-काल 949 हिजरी (1542 ई.) स्वीकार किया है। जायसी की मृत्यु अमेठी में हुई। अमेठी में जायसी की कब्र है, जहां हिन्दू-मुसलमान समान श्रद्धापूर्वक आते हैं। कवि के रूप में मलिक मुहम्मद जायसी की कीर्ति का एक ही महत्त्वपूर्ण आधार 'पद्मावत' है, जिसे कवि ने रक्त और प्रेम-जल से भिगोकर लिखा है।

रचनाएँ

जायसी की अन्य रचनाएं ये हैं- 'अखरावट', 'आखिरी कलाम', 'चित्ररेखा', 'मसलानामा', 'कहरानामा'।

8

मीरां

मीरांबाई अथवा मीराबाई हिन्दू आध्यात्मिक कवयित्री थीं, जिनके भगवान श्रीकृष्ण के प्रति समर्पित भजन उत्तर भारत में बहुत लोकप्रिय हैं। भजन और स्तुति की रचनाएँ कर आमजन को भगवान के और समीप पहुँचाने वाले संतों और महात्माओं में मीराबाई का स्थान सबसे ऊपर माना जाता है। मीरा का सम्बन्ध एक राजपूत परिवार से था। वे राजपूत राजकुमारी थीं, जो मेड़ता महाराज के छोटे भाई रतन सिंह की एकमात्र संतान थीं। उनकी शाही शिक्षा में संगीत और धर्म के साथ-साथ राजनीति व प्रशासन भी शामिल थे। एक साधु द्वारा बचपन में उन्हें कृष्ण की मूर्ति दिए जाने के साथ ही उनकी आजन्म कृष्ण भक्ति की शुरुआत हुई, जिनकी वह दिव्य प्रेमी के रूप में आराधना करती थीं।

जन्म तथा शिक्षा

प्रसिद्ध कृष्ण भक्त कवयित्री मीराबाई जोधपुर, राजस्थान के मेड़वा राजकुल की राजकुमारी थीं। विद्वानों में इनकी जन्म-तिथि के संबंध में मतैक्य नहीं है। कुछ विद्वान् इनका जन्म 1430 ई. मानते हैं और कुछ 1498 ई.। मीराबाई मेड़ता महाराज के छोटे भाई रतन सिंह की एकमात्र संतान थीं। उनका जीवन बड़े दु:ख और कष्ट में व्यतीत हुआ था। मीरा जब केवल दो वर्ष की थीं, उनकी माता की मृत्यु हो गई। इसलिए इनके दादा राव दूदा उन्हें मेड़ता ले आए और अपनी देख-रेख में उनका पालन-पोषण किया। राव दूदा एक योद्धा होने के

साथ-साथ भक्त-हृदय व्यक्ति भी थे और साधु-संतों का आना-जाना इनके यहाँ लगा ही रहता था। इसलिए मीरा बचपन से ही धार्मिक लोगों के सम्पर्क में आती रहीं। इसके साथ ही उन्होंने तीर-तलवार, जैसे- शस्त्र-चालन, घुड़सवारी, रथ-चालन आदि के साथ-साथ संगीत तथा आध्यात्मिक शिक्षा भी पाई।

जन्म सम्बंधी तथ्य

मीराबाई के जन्म काल तथा जीवन-वृत्त के विषय में बहुत मतभेद हैं। श्यामचंद्र कपूर ने अपनी पुस्तक 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में उल्लेखित किया है–

- प्रियादास ने संवत् 1769 वि. में भक्तमाल की टीका 'भक्तिरस बोधिनी' में लिखा है कि मीरा की जन्म भूमि मेड़ता थी।
- नागरीदास ने लिखा है कि मेड़ता की मीराबाई का विवाह राणा के अनुज से हुआ था।
- कर्नल टॉड ने 'एनलस एण्ड एंटिक्वटीज ऑफ राजस्थान' में मीरा का विवाह राणा कुम्भा से लिखा है।
- पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने अपने उदयपुर राज्य के इतिहास में लिखा है कि महाराणा साँगा के ज्येष्ठ पुत्र भोजराज का विवाह मेड़ता के राव वीरमदेव के छोटे भाई रत्नसिंह की पुत्री मीराबाई के साथ संवत् 1573 वि. में हुआ था।
- स्मरण रहे कि कर्नल टॉड अथवा उन्हीं के आधार पर जिन विद्वानों ने मीरा को कुम्भा की स्त्री माना है, वे दन्त कथाओं के आधार पर गलती कर गए हैं। सर्वप्रथम विलियम क्रुक ने बताया कि वास्तव में मीराबाई राणा कुम्भा की पत्नी नहीं थीं, वरन् साँगा के पुत्र भोजराज की पत्नी थीं।
- पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में लिखा है कि- 'इनका जन्म संवत् 1573 वि. में चौकड़ी नाम के एक गाँव में हुआ था और विवाह उदयपुर के महाराणा कुमार भोजराज जी के साथ हुआ था।'
- डॉक्टर गणपतिचन्द्र गुप्त ने इनका जन्म सन् 1498 ई. (संवत् 1555 वि.) के लगभग माना है।

कृष्ण से लगाव

मीराबाई के बालमन में कृष्ण की ऐसी छवि बसी थी कि यौवन काल से लेकर मृत्यु तक उन्होंने कृष्ण को ही अपना सब कुछ माना। जोधपुर के राठौड़

रतन सिंह की इकलौती पुत्री मीराबाई का मन बचपन से ही कृष्ण-भक्ति में रम गया था। उनका कृष्ण प्रेम बचपन की एक घटना की वजह से अपने चरम पर पहुँचा था। बाल्यकाल में एक दिन उनके पड़ोस में किसी धनवान व्यक्ति के यहाँ बारात आई थी। सभी स्त्रियाँ छत से खड़ी होकर बारात देख रही थीं। मीराबाई भी बारात देखने के लिए छत पर आ गईं। बारात को देख मीरा ने अपनी माता से पूछा कि "मेरा दूल्हा कौन है?" इस पर मीराबाई की माता ने उपहास में ही भगवान श्रीकृष्ण की मूर्ति की तरफ इशारा करते हुए कह दिया कि "यही तुम्हारे दूल्हा हैं"। यह बात मीराबाई के बालमन में एक गाँठ की तरह समा गई और अब वे कृष्ण को ही अपना पति समझने लगीं।

विवाह

मीराबाई के अद्वितीय गुणों को देख कर ही मेवाड़ नरेश राणा संग्राम सिंह ने मीराबाई के घर अपने बड़े बेटे भोजराज के लिए विवाह का प्रस्ताव भेजा। यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया गया और भोजराज के साथ मीरा का विवाह हो गया। इस विवाह के लिए पहले तो मीराबाई ने मना कर दिया था, लेकिन परिवार वालों के अत्यधिक बल देने पर वह तैयार हो गईं। वह फूट-फूट कर रोने लगीं और विदाई के समय श्रीकृष्ण की वही मूर्ति अपने साथ ले गईं, जिसे उनकी माता ने उनका दूल्हा बताया था। मीराबाई ने लज्जा और परंपरा को त्याग कर अनूठे प्रेम और भक्ति का परिचय दिया।

पति की मृत्यु

विवाह के दस वर्ष बाद ही मीराबाई के पति भोजराज का निधन हो गया। सम्भवत: उनके पति की युद्धोपरांत घावों के कारण मृत्यु हो गई थी। पति की मृत्यु के बाद ससुराल में मीराबाई पर कई अत्याचार किए गए। सन् 1527 ई. में बाबर और सांगा के युद्ध में मीरा के पिता रत्नसिंह मारे गए और लगभग तभी 'वसुर की मृत्यु हुई। सांगा की मृत्यु के पश्चात् भोजराज के छोटे भाई रत्नसिंह सिंहासनासीन हुए, अतएव निश्चित है कि अपने 'वसुर के जीवनकाल में ही मीरा विधवा हो गई थीं। सन् 1531 ई. में राणा रत्नसिंह की मृत्यु हुई और उनके सौतेले भाई विक्रमादित्य राणा बने।

लौकिक प्रेम की अल्प समय में ही इतिश्री होने पर मीरा ने परलौकिक प्रेम को अपनाया और कृष्ण भक्त हो गई। वे सत्संग, साधु-संत-दर्शन और

कृष्ण-कीर्तन के आध्यात्मिक प्रवाह में पड़कर संसार को निस्सार समझने लगीं। उन्हें राणा विक्रमादित्य और मंत्री विजयवर्गीय ने अत्यधिक कष्ट दिए। राणा ने अपनी बहन ऊदाबाई को भी मीरा को समझाने के लिए भेजा, पर कोई फल न हुआ। वे कुल मर्यादा को छोड़कर भक्त जीवन अपनाए रहीं। मीरा को स्त्री होने के कारण, चित्तौड़ के राजवंश की कुलवधू होने के कारण तथा अकाल में विधवा हो जाने के कारण अपने समाज तथा वातावरण से जितना विरोध सहना पड़ा उतना कदाचित ही किसी अन्य भक्त को सहना पड़ा हो। उन्होंने अपने काव्य में इस पारिवारिक संघर्ष के आत्मचरित-मूलक उल्लेख कई स्थानों पर किए हैं।

सन् 1533 ई. के आसपास मीरा को 'राव बीरमदेव' ने मेड़ता बुला लिया। मीरा के चित्तौड़ त्याग के पश्चात् सन् 1534 ई. में गुजरात के सुल्तान बहादुरशाह ने चित्तौड़ पर अधिकार कर लिया। विक्रमादित्य मारे गए तथा तेरह सहस्र महिलाओं ने जौहर किया। सन् 1538 ई. में जोधपुर के राव मालदेव ने बीरमदेव से मेड़ता छीन लिया। वे भागकर अजमेर चले गए और मीरा बृज की तीर्थ यात्रा पर चल पड़ीं। सन् 1539 ई. में मीरा वृंदावन में रूप गोस्वामी से मिलीं। वे कुछ काल तक वहां रहकर सन् 1546 ई. के पूर्व ही कभी द्वारिका चली गईं। उन्हें निर्गुण पंथी संतों और योगियों के सत्संग से ईश्वर भक्ति, संसार की अनित्यता तथा विरक्ति का अनुभव हुआ था। तत्कालीन समाज में मीराबाई को एक विद्रोहिणी माना गया। उनके धार्मिक क्रिया-कलाप राजपूत राजकुमारी और विधवा के लिए स्थापित नियमों के अनुकूल नहीं थे। वह अपना अधिकांश समय कृष्ण को समर्पित मंदिर में और भारत भर से आये साधुओं व तीर्थ यात्रियों से मिलने तथा भक्ति पदों की रचना करने में व्यतीत करती थीं।

हत्या के प्रयास

पति की मृत्यु के बाद मीराबाई की भक्ति दिन-प्रतिदिन और भी बढ़ती गई। वे मंदिरों में जाकर वहाँ मौजूद कृष्ण भक्तों के सामने कृष्णजी की मूर्ति के आगे नाचती रहती थीं। मीरा के लिए आनन्द का माहौल तो तब बना, जब उनके कहने पर राजा महल में ही कृष्ण का एक मंदिर बनवा देते हैं। महल में मंदिर बन जाने से भक्ति का ऐसा वातावरण बनता है कि वहाँ साधु-संतों का आना-जाना शुरू हो जाता है। मीराबाई के देवर राणा विक्रमजीत सिंह को यह सब बुरा लगता है। ऊधा जी भी मीराबाई को समझाते हैं, लेकिन मीरा

दीन-दुनिया भूल कर भगवान श्रीकृष्ण में रमती जाती हैं और वैराग्य धारण कर जोगिया बन जाती हैं। भोजराज के निधन के बाद सिंहासन पर बैठने वाले विक्रमजीत सिंह को मीराबाई का साधु-संतों के साथ उठना-बैठना पसन्द नहीं था। मीराबाई को मारने के कम से कम दो प्रयासों का चित्रण उनकी कविताओं में हुआ है। एक बार फूलों की टोकरी में एक विषेला साँप भेजा गया, लेकिन टोकरी खोलने पर उन्हें कृष्ण की मूर्ति मिली। एक अन्य अवसर पर उन्हें विष का प्याला दिया गया, लेकिन उसे पीकर भी मीराबाई को कोई हानि नहीं पहुँची।

द्वारिका में वास

इन सब कुचक्रों से पीड़ित होकर मीराबाई अंतत: मेवाड़ छोड़कर मेड़ता आ गईं, लेकिन यहाँ भी उनका स्वछंद व्यवहार स्वीकार नहीं किया गया। अब वे तीर्थयात्रा पर निकल पड़ीं और अंतत: द्वारिका में बस गईं। वे मंदिरों में जाकर वहाँ मौजूद कृष्ण भक्तों के सामने कृष्ण की मूर्ति के आगे नाचती रहती थीं। सन् 1543 ई. के पश्चात् मीरा द्वारिका में रणछोड़ की मूर्ति के सन्मुख नृत्य-कीर्तन करने लगीं। सन् 1546 ई. में चित्तौड़ से कतिपय ब्राह्मण उन्हें बुलाने के लिए द्वारिका भेजे गए। कहते हैं कि मीरा रणछोड़ से आज्ञा लेने गईं और उन्हीं में अंतर्धान हो गईं। जान पड़ता है कि ब्राह्मणों ने अपनी मर्यादा बचाने के लिए यह कथा गढ़ी थी। सन् 1554 ई. में मीरा के नाम से चित्तौड़ के मंदिर में गिरिधरलाल की मूर्ति स्थापित हुई। यह मीरा का स्मारक और उनके इष्टदेव का मंदिर दोनों था। गुजरात में मीरा की पर्याप्त प्रसिद्धि हुई। हित हरिवंश तथा हरिराम व्यास जैसे वैष्णव भी उनके प्रति श्रद्धा भाव व्यक्त करने लगे।

मान्यताएँ

एक ऐसी मान्यता है कि मीराबाई के मन में श्रीकृष्ण के प्रति जो प्रेम की भावना थी, वह जन्म-जन्मांतर का प्रेम था। मान्यतानुसार मीरा पूर्व जन्म में वृंदावन (मथुरा) की एक गोपिका थीं। उन दिनों वह राधा की प्रमुख सहेलियों में से एक हुआ करती थीं और मन ही मन भगवान कृष्ण को प्रेम करती थीं। इनका विवाह एक गोप से कर दिया गया था। विवाह के बाद भी गोपिका का कृष्ण प्रेम समाप्त नहीं हुआ। सास को जब इस बात का पता चला तो उन्हें घर में बंद कर दिया। कृष्ण से मिलने की तड़प में गोपिका ने अपने प्राण त्याग दिए। बाद के समय में जोधपुर के पास मेड़ता गाँव में 1504 ई. में राठौर रतन सिंह के घर

गोपिका ने मीरा के रूप में जन्म लिया। मीराबाई ने अपने एक अन्य दोहे में जन्म-जन्मांतर के प्रेम का भी उल्लेख किया है-

"आकुल व्याकुल फिरूं रैन दिन, विरह कलेजा खाय
दिवस न भूख नींद नहिं रैना, मुख के कथन न आवे बैना
कहा करूं कुछ कहत न आवै, मिल कर तपत बुझाय
क्यों तरसाओ अतंरजामी, आय मिलो किरपा कर स्वामी।
मीरा दासी जनम जनम की, परी तुम्हारे पाय॥"

मीराबाई के मन में श्रीकृष्ण के प्रति प्रेम की उत्पत्ति से संबंधित एक अन्य कथा भी मिलती है। इस कथानुसार, एक बार एक साधु मीरा के घर पधारे। उस समय मीरा की उम्र लगभग 5-6 साल थी। साधु को मीरा की माँ ने भोजन परोसा। साधु ने अपनी झोली से श्रीकृष्ण की मूर्ति निकाली और पहले उसे भोग लगाया। मीरा माँ के साथ खड़ी होकर इस दृश्य को देख रही थीं। जब मीरा की नजर श्रीकृष्ण की मूर्ति पर गयी तो उन्हें अपने पूर्व जन्म की सभी बातें याद आ गयीं। इसके बाद से ही मीरा कृष्ण के प्रेम में मग्न हो गयीं।

जीव गोस्वामी से भेंट

एक प्रचलित कथा के अनुसार मीराबाई वृंदावन में भक्त शिरोमणी जीव गोस्वामी के दर्शन के लिये गईं। गोस्वामी जी सच्चे साधु होने के कारण स्त्रियों को देखना भी अनुचित समझते थे। उन्होंने मीराबाई से मिलने से मना कर दिया और अन्दर से ही कहला भेजा कि- "हम स्त्रियों से नहीं मिलते"। इस पर मीराबाई का उत्तर बड़ा मार्मिक था। उन्होंने कहा कि "वृंदावन में श्रीकृष्ण ही एक पुरुष हैं, यहाँ आकर जाना कि उनका एक और प्रतिद्वन्द्वी पैदा हो गया है"। मीराबाई का ऐसा मधुर और मार्मिक उत्तर सुन कर जीव गोस्वामी नंगे पैर बाहर निकल आए और बडे प्रेम से उनसे मिले। इस कथा का उल्लेख सर्वप्रथम प्रियादास के कवित्तों में मिलता है-

'वृन्दावन आई जीव गुसाई जू सो मिल झिली, तिया मुख देखबे का पन लै छुटायौ।

मीरा का पत्र

अपने परिवार वालों के व्यवहार से पीड़ित और फिर परेशान होकर मीराबाई द्वारका और फिर वृंदावन आ गई थीं। वह जहाँ भी जाती थीं, वहाँ लोगों का

सम्मान मिलता। लोग उन्हें देवियों के जैसा प्यार और सम्मान देते थे। इसी दौरान उन्होंने तुलसीदास को एक पत्र भी लिखा था–

स्वस्ति श्री तुलसी कुलभूषण दूषन- हरन गोसाई।
बारहिं बार प्रनाम करहूँ अब हरहूँ सोक- समुदाई॥
घर के स्वजन हमारे जेते सबन्ह उपाधि बढ़ाई।
साधु- सग अरु भजन करत माहिं देत कलेस महाई॥
मेरे माता- पिता के समहौ, हरिभक्तन्ह सुखदाई।
हमको कहा उचित करिबो है, सो लिखिए समझाई॥

मीराबाई के पत्र का जबाव गोस्वामी तुलसीदास जी ने इस प्रकार दिया था–

जाके प्रिय न राम बैदेही।
सो नर तजिए कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेहा॥
नाते सबै राम के मनियत सुह्मद सुसंख्य जहाँ लौ।
अंजन कहा आँखि जो फूटे, बहुतक कहो कहां लौ॥

गुरु

मीराबाई संत रविदास की महान् शिष्या तथा संत कवयित्री थीं। अधिकतर विद्वानों ने मीराबाई को गुरु रविदास जी की शिष्या स्वीकार किया है। काशीनाथ उपाध्याय ने भी लिखा है– "इस विषय पर कोई सन्देह नहीं किया जा सकता कि मीराबाई गुरु रविदास जी की शिष्या थीं, क्योंकि मीराबाई ने स्वयं अपने पदों में बार-बार गुरु रविदास जी को अपना गुरु बताया है।"

"खोज फिरूं खोज वा घर को, कोई न करत बखानी।
सतगुरु संत मिले रैदासा, दीन्ही सुरत सहदानी॥
वन पर्वत तीरथ देवालय, ढूंढा चहूं दिशि दौर।
मीरा श्री रैदास शरण बिन, भगवान और न ठौर॥
मीरा म्हाने संत है, मैं सन्ता री दास।
चेतन सता सेन ये, दासत गुरु रैदास॥
मीरा सतगुरु देव की, कर बंदना आस।
जिन चेतन आतम कह्या, धन भगवान रैदास॥
गुरु रैदास मिले मोहि पूरे, धुर से कलम भिड़ी।
सतगुरु सैन दई जब आके, ज्याति से ज्योत मिलि॥

मेरे तो गिरीधर गोपाल दूसरा न कोय।
गुरु हमारे रैदास जी सरनन चित सोय॥"

इस प्रकार मीराबाई की वाणी से स्पष्ट है कि वह गुरु रविदास के समकालीन संत श्रेणी में आती थीं और गुरु रविदास को ही उन्होंने गुरु की उपाधि प्रदान की थी। अत: मीराबाई गुरु रविदास की विधिवत शिष्या बनीं और साथ ही नाम सबद, संगीत व तंबूरा, जिसे मीराबाई बजाती थीं, गुरु रविदास से ही पाया था। इसीलिए सम्भवत: यह लगता है कि गुरु दक्षिणा के रूप में उन्होंने राजस्थान के चित्तौड़गढ़ में 'रविदास छत्तरी' का निर्माण करवाया था। मीराबाई ने भी अपनी वाणी को रागों में ही उच्चारित किया है, जिसमें अधिकतर शब्दों में भैरवी राग को देखा जा सकता है–

- ग्रन्थ रचना
- भक्तिकालीन साहित्य में मीरां
- चतुर्भुज नाथ एवं मीरांबाई मंदिर

मीराबाई ने चार ग्रन्थों की भी रचना की थी–

- 'बरसी का मायरा'
- 'गीत गोविंद टीका'
- 'राग गोविंद'
- 'राग सोरठ'

इसके अतिरिक्त उनके गीतों का संकलन "मीराबाई की पदावली" नामक ग्रन्थ में किया गया है, जिसमें निम्नलिखित खंड प्रमुख हैं–

- नरसी जी का मायरा,
- मीराबाई का मलार या मलार राग,
- गर्बा गीता या मीराँ की गरबी,
- फुटकर पद,
- सतभामानु रूसण या सत्यभामा जी नुं रूसणं,
- रुक्मणी मंगल,
- नरसिंह मेहता की हुंडी,
- चरित।

पद

मीराबाई की महानता और उनकी लोकप्रियता उनके पदों और रचनाओं की वजह से भी है। ये पद और रचनाएँ राजस्थानी, ब्रज और गुजराती भाषाओं में

मिलते हैं। हृदय की गहरी पीड़ा, विरहानुभूति और प्रेम की तन्मयता से भरे हुए मीराबाई के पद अनमोल संपत्ति हैं। आँसुओं से भरे ये पद गीतिकाव्य के उत्तम नमूने हैं। मीराबाई ने अपने पदों में ' शृंगार रस' और 'शांत रस' का प्रयोग विशेष रूप से किया है। भावों की सुकुमारता और निराडंबरी सहज शैली की सरसता के कारण मीराबाई की व्यथासिक्त पदावली बरबस ही सबको आकर्षित कर लेती है। मीराबाई ने भक्ति को एक नया आयाम दिया है। एक ऐसा स्थान जहाँ भगवान ही इंसान का सब कुछ होता है। संसार के सभी लोभ उसे मोह से विचलित नहीं कर सकते। एक अच्छा-खासा राजपाट होने के बाद भी मीराबाई वैरागी बनी रहीं। उनकी कृष्ण भक्ति एक अनूठी मिसाल रही है।

पायो जी म्हें तो राम रतन धन पायो
मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरौ न कोई
मीराबाई की साधु-संतों से संगत

डॉ. ओमप्रकाश त्रिपाठी की पुस्तक "भक्तिकाल के प्रमुख कवियों का पुनर्मूल्याँकन" में लिखा है कि मीराबाई की भक्ति मात्र एकांगिक नहीं थी। अनेक विद्वानों का मत है कि वह एक सामाजिक चुनौती के रूप में प्रकट हुई थीं। मीरा ने अनुभव किया कि राणा अत्याचारी है और दुर्भावनाग्रस्त भी है। इसकी प्रतिक्रियावश उनके मन में विद्रोह भाव जागा। इसीलिए उन्होंने राज-मर्यादा को त्याग कर सन्तों का सान्निध्य ग्रहण किया। मीरा सन्तों के साथ वन-वन भटकने और नाचने-गाने लगी थीं, जिससे राज परिवार में उनकी स्थिति विवादास्पद हो गई। तत्कालीन सामन्ती मर्यादा तथा राजकीय व्यवस्था के अनुसार जितनी वर्जनाएँ की गयीं, मीरा का विद्रोह उतना ही बिगड़ता गया। उन्होंने अनेक पदों में यह घोषणा की है कि वे किसी भी स्थिति में सन्तों का साथ नहीं छोड़ेगी, जैसे-

मीरा की प्रीति लगी संतन सूं साधु हमारी आत्मा
संतन पर तन मन वारूं, संतन संगि बैठि-बैठि लोक लाज खोई
साथ संग भटकी, सब संतन के मन भायी
रमरया साधा री साथा, साधु हमारे सिर थड़ी
साधु मायर नाथ, साधु थारे संग सुख पाहयो
साथा करस्यां साथ की, साथा मण्डल साथ की
साथा संग रहूंगी, साधु ही पीहर सासुरो
म्हारे साथा से इक्त्यार, मीरा के हरिजन मिल्या
सन्ता हाथ बिकानी, सन्ता री संगति नहीं छोडूं

मीराबाई पर की गयी सख्ती का मूल कारण था, उनका साधु-सन्तों के साथ उठना-बैठना। लगभग सभी संत शूद्र वर्ण से सम्बन्ध रखने वाले थे। इसी बात की पुष्टि में मीरा आगे कहती हैं-

"मैं तो नाहीं रहूँ, राणा जी थारा देश में।"

भाषा

भाषा को लेकर भी विभिन्न विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं। मारवाड़ी भाषा में स्थान की अन्य भाषा-छवियाँ भी विद्यामान हैं। फिर मीराबाई की भाषा में गुजराती, ब्रज और पंजाबी भाषा के प्रयोग भी मिलते भी हैं। मीराबाई अन्य संतों नामदेव, कबीर, रैदास आदि की भाँति मिली-जुली भाषा में अपने भावों को व्यक्त करती हैं। उनके पदों की संख्या भी अभी तक सुनिश्चित नहीं की जा सकी है। खोज एवं शोध अभी तक जारी है। कुछ समय पूर्व 'लूर' का मीराँ विशेषांक प्रकाशित हुआ था। इसमें मीराबाई द्वारा गाए गए 41 पद दिए गए हैं। इन्हें 'हरजस' नाम दिया गया है, जिन्हें लोक द्वारा विभिन्न अवसरों पर गाया जाता है। कुछ शब्दों के अर्थ भी स्पष्ट किए गए हैं। अत: कहना होगा कि इस दिशा में शोध कार्य अभी जारी है। कोई सर्वमान्य, स्वीकार्य निर्णय अभी शेष है।

मीराबाई द्वारा प्रयुक्त सांगितिक पद्धति

संगीत की दृष्टि से मीराबाई मध्य काल में प्रचलित संगीत की राग-रागिनी पद्धति से भली प्रकार से परिचत थीं तथा वाणी का उच्चारण रागों में करना इसका सबसे बड़ा प्रमाण है, जो कि वर्तमान में शोध का विषय बन कर सामने आया है। गुरु प्यारी साध संगत जी, ऐसा सर्वविदित है कि समस्त जगत् नाद के अधीन है तथा संगीत नाद का सबसे बड़ा रूप है, जिसे मीराबाई ने 45 रागों के रूप में अपनाते हुए अपनी वाणी को रागों में बद्धित किया और ईश्वर की प्राप्ति में दोनों नादों का प्रयोग किया। नाद दो प्रकार के माने गए हैं-

अनाहत नाद - इसे संतो ने 'अनहत सबद बजावणया' की संज्ञा दी। यह योगियों द्वारा ध्यान से मन मस्तिष्क में सुनी जाती है, जिसे मध्य काल के संतों ने खोजा है।

आहत नाद - यह नाद आघात द्वारा पैदा होती है। संगीत इसी का एक रूप है। इसीलिए मीराबाई ने नाम शब्दों से ध्यान लगाया तथा अपनी वाणी को संगीत (रागों) के रूप में उच्चारित किया।

संगीत को ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाए तो यह मोहनजोदड़ो, हड़प्पा संस्कृति तथा देवी-देवताओं के काल से चला आ रहा अध्यात्म और मनोरंजन का आलौकिक साधन है, जिसे अति प्राचीन काल और प्राचीन काल से लेकर जन-साधारण और विद्वानों द्वारा प्रयुक्त कई विधाओं को जन्म मिला तथा आते-आते मध्य काल में यह राग-रागिनी पद्धति बनकर सामने आया, जोकि तत्कालीन समय के प्रत्येक संगीत विद्वान् द्वारा अपनाई गई पद्धति थी। इसी प्रकार मध्य काल के संत-महात्माओं ने भी गायन के लिए इसी पद्धति का प्रयोग कर अपनी वाणी रचनाओं को उद्धृत किया। यह पद्धति मुख्यतः सांगीतिक ग्रन्थों में शिव-मत, भरत, कल्लिनाथ, हनुमत, नारद मुनि, पुण्डरीक विठ्ठल आदि द्वारा अपनाई गई थी। अतः संगीत को अपनाना मीराबाई का संगीत जगत् के लिए सराहनीय योगदान है। इस काल में कई महान् संत, जैसे- संत रविदास, संत कबीर, संत सदना, संत सैन, संत नामदेव, संत धन्ना, संत बैणी, संत भीखा, संत पीपा, संत त्रिलोचन तथा संत जयदेव आदि हुए, जो कि अधिकतर निम्न संप्रदाय से संबंध रखने वाले थे। इन सभी संतों ने सामाजिक कुरीतियों का खण्डन कर भेदभावों का भी विरोध किया जो कि समाज को दीमक के समान खोखला करने पर तुले हुए थे। इन सभी संतों ने अपनी वाणी को रागों में उच्चारा है। मीराबाई की वाणी लगभग 45 रागों में उपलब्ध होती है-

मीराबाई द्वारा प्रयुक्त राग

क्र.स.	राग
1.	राग झिंझोटी
2.	राग काहन्ड़ा
3.	राग केदार
4.	राग कल्याण
5.	राग खट
6.	राग गुजरी
7.	राग गोंड
8.	राग छायानट
9.	राग ललित
10.	राग त्रिबेणी
11.	राग सूहा

12. राग सारंग
13. राग तोड़ी
14. राग धनासरी
15. राग आसा
16. राग बसंत
17. राग बिलाबल
18. राग बिहागड़ो
19. राग भैरों
20. राग मल्हार
21. राग मारु
22. राग रामकली
23. राग पीलु
24. राग सिरी
25. राग कामोद
26. राग सोरठि
27. राग प्रभाती
28. राग भैरवी
29. राग जोगिया
30. राग देष
31. राग कलिंगडा
32. राग देव गंधार
33. राग पट मंजरी
34. राग काफी
35. राग मालकौंस
36. राग जौनपुरी
37. राग पीलु
38. राग श्याम कल्याण
39. राग परज
40. राग असावरी
41. राग बागेश्री
42. राग भीमपलासी

43.	राग पूरिया कल्याण
44.	राग हमीर
45.	राग सोहनी

अत: इस प्रकार वाणी का अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि मीराबाई ने अपनी वाणी में छन्द, अलंकार, रस और संगीत का पूर्णतया प्रयोग किया और इसे अध्यात्म का मार्ग बनाया, जो कि वर्तमान के लिए प्रेरणा है। मीराबाई ने 'भारतीय शास्त्रीय संगीत' को संजोए रखने में एक अनोखी कड़ी जोड़ दी, जिसका प्रमाण तथा पुष्टि विभिन्न ग्रन्थों के अवलोकन करने पर स्पष्ट होती है। अत: इस पद्धति को मीराबाई ने अपनाया और अपनी वाणी को संगीत के साथ जोड़कर अध्यात्म के साथ-साथ संगीत का भी प्रचार-प्रसार किया, साथ ही संगीत को जीवित रखने में भी अपनी सहमति तथा हिस्सेदारी पाई।

'मीरा' फिल्म का निर्माण

फिल्म 'मीरा' (1979)

भारत के प्रसिद्ध गीतकार गुलजार ने मीराबाई के जीवन पर आधारित एक हिन्दी फिल्म का भी निर्माण किया। गुलजार निर्मित और अपने समय की मशहूर अभिनेत्री हेमा मालिनी द्वारा अभिनीत इस फिल्म में संगीत पण्डित रविशंकर ने दिया था। विख्यात सितार वादक के रूप में पहचाने जाने वाले पण्डित रविशंकर ने कुछ गिनी-चुनी फिल्मों में ही संगीत दिया है, परन्तु जो दिया है, वह अविस्मरणीय है। पण्डित जी फिल्म में पार्श्वगायिका लता मंगेशकर से मीरा के पदों को गवाना चाहते थे, परन्तु लता जी ने अपने भाई हृदयनाथ मंगेशकर के संगीत में मीरा के अधिकतर पदों को लोकप्रिय बना दिया था, अत: रविशंकर जी ने फिल्म में वाणी जयराम से मीरा के पदों का गायन कराया। फिल्म के सभी गीत विविध रागों पर आधारित थे।

मृत्यु

मीराबाई अपने युग से लेकर आज तक लोकप्रियता के शिखर पर आरूढ़ हैं। उनके गीत या भजन आज भी हिन्दी-अहिन्दी भाषी भारतवासियों के होठों पर विराजमान हैं। मीरा के कई पद हिन्दी फिल्मी गीतों का हिस्सा भी बने। वे बहुत दिनों तक वृन्दावन (मथुरा, उत्तर प्रदेश) में रहीं और फिर द्वारिका चली

गईं। जहाँ संवत 1560 ई. में वे भगवान श्रीकृष्ण की मूर्ति में समा गईं। जब उदयसिंह राजा बने तो उन्हें यह जानकर बहुत निराशा हुई कि उनके परिवार में एक महान् भक्त के साथ कैसा दुर्व्यवहार हुआ। तब उन्होंने अपने राज्य के कुछ ब्राह्मणों को मीराबाई को वापस लाने के लिए द्वारका भेजा। जब मीराबाई आने को राजी नहीं हुईं तो ब्राह्मण जिद करने लगे कि वे भी वापस नहीं जायेंगे। उस समय द्वारका में 'कृष्ण जन्माष्टमी' आयोजन की तैयारी चल रही थी। मीराबाई ने कहा कि वे आयोजन में भाग लेकर चलेंगी। उस दिन उत्सव चल रहा था। भक्तगण भजन में मग्न थे। मीरा नाचते-नाचते श्री रणछोड़राय जी के मन्दिर के गर्भग्रह में प्रवेश कर गईं और मन्दिर के कपाट बन्द हो गये। जब द्वार खोले गये तो देखा कि मीरा वहाँ नहीं थी। उनका चीर मूर्ति के चारों ओर लिपट गया था और मूर्ति अत्यन्त प्रकाशित हो रही थी। मीरा मूर्ति में ही समा गयी थीं। मीराबाई का शरीर भी कहीं नहीं मिला। उनका उनके प्रियतम प्यारे से मिलन हो गया था।

जिन चरन धरथो गोबरधन गरब- मधवा- हरन॥
दास मीरा लाल गिरधर आजम तारन तरन॥

आध्यात्म स्तम्भ

संत कवयित्री मीराबाई ने अपने हृदय-मन्दिर में इष्ट श्रीकृष्ण की मूरत स्थापित कर बचपन से ही उनकी पूजा-आराधना और अर्चना आरंभ कर दी थी। यहीं से उनके भाव-विह्वल भक्ति के गीत फूटे और बहे, जिसमें युग-युग की मानवता अपनी आत्मिक प्यास बुझाती रही है। कृष्ण के प्रति प्रेम-भक्ति उनके नारी-सुलभ स्वभाव एवं वृत्तियों के अति अनुकूल भी थी और दैव-योग से मीरा इसी दिशा में प्रवृत्त होती गईं। भौतिक जीवन और घटनाक्रमों ने इस वेग को और भी बढ़ाया तथा दिशा को साधा। वह पारिवारिक संबन्धों से मुक्त होकर उन्मुक्त हुईं महाभाव-हिलोरों पर उंमत्त हो झूलती रहीं। मीराबाई ने स्वयं मुक्त होकर अपने समय और युग की नारी को भी और देश-समाज के मानव एवं मानवता को भी मुक्त किया। मध्य युग में ही आधुनिक मानव की मुक्ति का बिगुल बजाने वाली स्त्री संत, आधुनिकता के नारी-विमर्श का बीज-वपन करने वाली मीराबाई अपने जीवन में तथा मृत्यु में भी मुक्त रहीं। वास्तव में मीरा वर्तमान भौतिक अंधकार के विरुद्ध भारतीय महाभाव-प्रेम एवं अध्यात्म का दीप स्तंभ हैं। भौतिक वैश्वीकरण एवं बाजारीकरण के विपरीत मानव की मुक्ति, समानता, गरिमा के आग्रहों को भावनात्मक सार्वभौमिकता देने वाली मीराबाई आध्यात्मिक वैश्वीकरण एवं विश्वमानवता का अलख जगाने वाली महान् मानवी है।

9

रविदास

संतगुरु रविदास जी भारत के उन चुनिंदा महापुरुषों में से एक हैं जिन्होंने अपने रूहानी वचनों से सारे संसार को एकता, भाईचारा पर जोर दिया। आप जी की अनूप महिमा को देख कई राजे और रानियां आपकी शरण में आए। आप ने जीवन भर समाज में फैली कुरीति जैसे जात पात के अंत के लिए काम किया।

आप के सेवक आप को "सतगुरु", "जगतगुरू" आदि नामों से सत्कार करते हैं। आप ने अपनी दया दृष्टि से करोड़ों लोगों का उद्धार किया जैसे– 'मीरा बाई,' सिकंदर लोधी, 'राजा पीपा,' राजा नागरमल'। आदि

गुरू रविदास (रैदास) का जन्म काशी में माघ पूर्णिमा दिन रविवार को संवत 1482 को हुआ था। उनके जन्म के बारे में एक दोहा प्रचलित है।

चौदह से तैंतीस कि माघ सुदी पन्दरास। दुखियों के कल्याण हित प्रगटे श्री रविदास। उनके पिता राहू तथा माता का नाम करमा था। उनकी पत्नी का नाम लोना बताया जाता है। रैदास ने साधु-सन्तों की संगति से पर्याप्त व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त किया था। वे जूते बनाने का काम किया करते थे और ये उनका व्यवसाय था और उन्होंने अपना काम पूरी लगन तथा परिश्रम से करते थे और समय से काम को पूरा करने पर बहुत ध्यान देते थे।

किन्तु संत रामानन्द के शिष्य बनकर उन्होंने आध्यात्मिक ज्ञान अर्जित किया। उनकी समयानुपालन की प्रवृति तथा मधुर व्यवहार के कारण उनके सम्पर्क में आने वाले लोग भी बहुत प्रसन्न रहते थे। प्रारम्भ से ही रविदास जी

बहुत परोपकारी तथा दयालु थे और दूसरों की सहायता करना उनका स्वभाव बन गया था। साधु-सन्तों की सहायता करने में उनको विशेष आनन्द मिलता था। वे उन्हें प्राय: मूल्य लिये बिना जूते भेंट कर दिया करते थे। उनके स्वभाव के कारण उनके माता-पिता उनसे अप्रसन्न रहते थे। कुछ समय बाद उन्होंने रविदास तथा उनकी पत्नी को अपने घर से भगा दिया। रविदास पड़ोस में ही अपने लिए एक अलग इमारत बनाकर तत्परता से अपने व्यवसाय का काम करते थे और शेष समय ईश्वर-भजन तथा साधु-सन्तों के सत्संग में व्यतीत करते थे।

संत रैदास काशी के रहने वाले थे। इन्हें रामानन्द का शिष्य माना जाता है परंतु अंत:साक्ष्य के किसी भी स्रोत से रैदास का रामानन्द का शिष्य होना सिद्ध नहीं होता। इनके अतिरिक्त रैदास की कबीर से भी भेंट की अनेक कथाएँ प्रसिद्ध हैं परंतु उनकी प्रामाणिकता सन्दिग्ध है। नाभादास कृत 'भक्तमाल' में रैदास के स्वभाव और उनकी चारित्रिक उच्चता का प्रतिपादन मिलता है। प्रियादास कृत 'भक्तमाल' की टीका के अनुसार चित्तौड़ की 'झालारानी' उनकी शिष्या थीं, जो महाराणा सांगा की पत्नी थीं। इस दृष्टि से रैदास का समय सन् 1482-1527 ई. (सं. 1539-1584 वि.) अर्थात विक्रम की सोलहवीं शती के अंत तक चला जाता है। कुछ लोगों का अनुमान कि यह चित्तौड़ की रानी मीराबाई ही थीं और उन्होंने रैदास का शिष्यत्व ग्रहण किया था। मीरा ने अपने अनेक पदों में रैदास का गुरु रूप में स्मरण किया है -

रैदास ने अपने पूर्ववर्ती और समसामायिक भक्तों के सम्बन्ध में लिखा है। उनके निर्देश से ज्ञात होता है कि कबीर की मृत्यु उनके सामने ही हो गयी थी। रैदास की अवस्था 120 वर्ष की मानी जाती है।

जन्म

मध्ययुगीन संतों में प्रसिद्ध रैदास के जन्म के संबंध में प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध नहीं है। कुछ विद्वान् काशी में जन्मे रैदास का समय 1482-1527 ई. के बीच मानते हैं। रैदास का जन्म काशी में चर्मकार कुल में हुआ था। उनके पिता का नाम 'रगु' और माता का नाम 'घुरविनिया' बताया जाता है। रैदास ने साधु-सन्तों की संगति से पर्याप्त व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त किया था। जूते बनाने का काम उनका पैतृक व्यवसाय था और उन्होंने इसे सहर्ष अपनाया। वह अपना काम पूरी लगन तथा परिश्रम से करते थे और समय से काम को पूरा करने पर बहुत ध्यान देते थे। उनकी समयानुपालन की प्रवृत्ति तथा मधुर व्यवहार के कारण उनके सम्पर्क में आने वाले लोग भी बहुत प्रसन्न रहते थे।

व्यक्तित्व

रैदास के समय में स्वामी रामानन्द काशी के बहुत प्रसिद्ध प्रतिष्ठित सन्त थे। रैदास उनकी शिष्य-मण्डली के महत्त्वपूर्ण सदस्य थे। प्रारम्भ में ही रैदास बहुत परोपकारी तथा दयालु थे और दूसरों की सहायता करना उनका स्वभाव बन गया था। साधु-सन्तों की सहायता करने में उनको विशेष सुख का अनुभव होता था। वह उन्हें प्रायः मूल्य लिये बिना जूते भेंट कर दिया करते थे। उनके स्वभाव के कारण उनके माता-पिता उनसे अप्रसन्न रहते थे। कुछ समय बाद उन्होंने रैदास तथा उनकी पत्नी को अपने घर से अलग कर दिया। रैदास पड़ोस में ही अपने लिए एक अलग झोपड़ी बनाकर तत्परता से अपने व्यवसाय का काम करते थे और शेष समय ईश्वर-भजन तथा साधु-सन्तों के सत्संग में व्यतीत करते थे। कहते हैं, ये अनपढ़ थे, किंतु संत-साहित्य के ग्रंथों और गुरु-ग्रंथ साहब में इनके पद पाए जाते हैं।

वचनबद्धता

उनके जीवन की छोटी-छोटी घटनाओं से समय तथा वचन के पालन सम्बन्धी उनके गुणों का ज्ञान मिलता है। एक बार एक पर्व के अवसर पर पड़ोस के लोग गंगा-स्नान के लिए जा रहे थे। रैदास के शिष्यों में से एक ने उनसे भी चलने का आग्रह किया तो वे बोले, 'गंगा-स्नान के लिए मैं अवश्य चलता किन्तु एक व्यक्ति को आज ही जूते बनाकर देने का मैंने वचन दे रखा है। यदि आज मैं जूते नहीं दे सका तो वचन भंग होगा। गंगा स्नान के लिए जाने पर मन यहाँ लगा रहेगा तो पुण्य कैसे प्राप्त होगा? मन जो काम करने के लिए अन्तरूकरण से तैयार हो वही काम करना उचित है। मन सही है तो इस कठौती के जल में ही गंगास्नान का पुण्य प्राप्त हो सकता है।' कहा जाता है कि इस प्रकार के व्यवहार के बाद से ही कहावत प्रचलित हो गयी कि - 'मन चंगा तो कठौती में गंगा।'

संत रैदास

शिक्षा

रैदास ने ऊँच-नीच की भावना तथा ईश्वर-भक्ति के नाम पर किये जाने वाले विवाद को सारहीन तथा निरर्थक बताया और सबको परस्पर मिल जुल कर

प्रेमपूर्वक रहने का उपदेश दिया। वे स्वयं मधुर तथा भक्तिपूर्ण भजनों की रचना करते थे और उन्हें भाव-विभोर होकर सुनाते थे। उनका विश्वास था कि राम, कृष्ण, करीम, राघव आदि सब एक ही परमेश्वर के विविध नाम हैं। वेद, कुरान, पुराण आदि ग्रन्थों में एक ही परमेश्वर का गुणगान किया गया है।

'कृस्न, करीम, राम, हरि, राघव, जब लग एक न पेखा।
वेद कतेब कुरान, पुरानन, सहज एक नहिं देखा।।'

उनका विश्वास था कि ईश्वर की भक्ति के लिए सदाचार, परहित - भावना तथा सदव्यवहार का पालन करना अत्यावश्यक है। अभिमान त्याग कर दूसरों के साथ व्यवहार करने और विनम्रता तथा शिष्टता के गुणों का विकास करने पर उन्होंने बहुत बल दिया। अपने एक भजन में उन्होंने कहा है -

'कह रैदास तेरी भगति दूरि है, भाग बड़े सो पावै।
तजि अभिमान मेटि आपा पर, पिपिलक हवै चुनि खावै।'

उनके विचारों का आशय यही है कि ईश्वर की भक्ति बड़े भाग्य से प्राप्त होती है। अभिमान शून्य रहकर काम करने वाला व्यक्ति जीवन में सफल रहता है जैसे कि विशालकाय हाथी शक्कर के कणों को चुनने में असमर्थ रहता है, जबकि लघु शरीर की 'पिपीलिका' इन कणों को सरलतापूर्वक चुन लेती है। इसी प्रकार अभिमान तथा बड़प्पन का भाव त्याग कर विनम्रतापूर्वक आचरण करने वाला मनुष्य ही ईश्वर का भक्त हो सकता है।

सत्संग

शैशवावस्था से ही सत्संग के प्रति उनमें तीव्र अभिरुचि थी। अत: रामजानकी की मूर्ति बनाकर पूजन करने लगे थे। पिता ने किसी कारणवश उन्हें अपने से अलग कर दिया था और वे घर के पिछवाड़े छप्पर डालकर रहने लगे। ये परम संतोषी और उदार व्यक्ति थे। वे अपने बनाये हुये जूते बहुधा साधु-सन्तो में बांट दिया करते थे। इनकी विरक्ति के सम्बन्ध में एक प्रसंग मिलता है कि एक बार किसी महात्मा ने उन्हे 'पारस' पत्थर दिया जिसका उपयोग भी उसने बता दिया। पहले तो सन्त रैदास ने उसे लेना ही अस्वीकार कर दिया। किन्तु बार - बार आग्रह करने पर उन्होंने ग्रहण कर लिया और अपने छप्पर में खोंस देने के लिये कहा। तेरह दिन के बाद लौटकर उक्त साधु ने जब पारस पत्थर के बारे में पूछा तो संत रैदास का उत्तर था कि जहां रखा होगा, वहीं से उठा लो और सचमुच वह पारस पत्थर वहीं पड़ा मिला।

सत्य

सन्त रैदास ने सत्य को अनुपम और अनिवर्चनीय कहा है। वह सर्वत्र एक रस है। जिस प्रकार जल में तरंगे हैं उसी प्रकार सारा विश्व उसमें लक्षित होता है। वह नित्य, निराकार तथा सबके भीतर विद्यमान है। सत्य का अनुभव करने के लिये साधक को संसार के प्रति अनासक्त होना पड़ेगा। संत रैदास के अनुसार प्रेममूलक भक्ति के लिये अहंकार की निवृत्ति आवश्यक है। भक्ति और अहंकार एक साथ संभव नहीं है। जब तक साधक अपने साध्य के चरणों में अपना सर्वस्व अर्पण नहीं करता तब तक उसे लक्ष्य की सिद्धि नहीं हो सकती।

साधना

सन्त रैदास मध्ययुगीन इतिहास के संक्रमण काल में हुए थे। ब्राह्मणों की पैशाविक मनोवृत्ति से दलित और उपेक्षित पशुवत जीवन व्यतीत करने के लिये बाध्य थे। यह सब उनकी मानसिकता को उद्वेलित करता था। सन्त रैदास की समन्वयवादी चेतना इसी का परिणाम है। उनकी स्वानुभूतिमयी चेतना ने भारतीय समाज में जागृति का संचार किया और उनके मौलिक चिन्तन ने शोषित और उपेक्षित शूद्रो में आत्मविश्वास का संचार किया। परिणामतः वह ब्राह्मणवाद की प्रभुता के सामने साहसपूर्वक अपने अस्तित्व की घोषणा करने में सक्षम हो गये। सन्त रैदास ने मानवता की सेवा में अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया। सन्त रैदास के मन में इस्लाम के लिए भी आस्था का समान भाव था। कबीर की वाणी में जहाँ आक्रोश की अभिव्यक्ति है, वहीं दूसरी ओर सन्त रैदास की रचनात्मक दृष्टि दोनों धर्मों को समान भाव से मानवता के मंच पर लाती है। सन्त रैदास वस्तुतः मानव धर्म के संस्थापक थे।

धर्म

वर्णाश्रम धर्म को समूल नष्ट करने का संकल्प, कुल और जाति की श्रेष्ठता की मिथ्या सिद्धि सन्त रैदास द्वारा अपनाये गये समन्वयवादी मानवधर्म का ही एक अंग है जिसे उन्होंने मानवतावादी समाज के रूप में संकल्पित किया था। जन्म जात मत पूछिये, का जात अरू पात। रविदास पूत सभ प्रभ के कोउ नहि जात कुजात

भक्ति

उपनिषदों से लेकर महर्षि नारद और शाण्डिल्य ने भक्ति तत्व की अनेक प्रकार से व्याख्या की है। रैदास ने भक्ति में रागात्मिका वृत्ति को ही महत्त्व दिया है। नाम मार्ग और प्रेम भक्ति उनकी अष्टांग साधना में ही है। रैदास की अष्टांग साधना पद्धति उनकी स्वतंत्र व स्वछंद चेतना का प्रवाह है। यह साधना पूर्णत: मौलिक है।

समाज पर प्रभाव

रैदास की वाणी, भक्ति की सच्ची भावना, समाज के व्यापक हित की कामना तथा मानव प्रेम से ओत-प्रोत होती थी। इसलिए उनकी शिक्षाओं का श्रोताओं के मन पर गहरा प्रभाव पड़ता था। उनके भजनों तथा उपदेशों से लोगों को ऐसी शिक्षा मिलती थी जिससे उनकी शंकाओं का सन्तोषजनक समाधान हो जाता था और लोग स्वत: उनके अनुयायी बन जाते थे। उनकी वाणी का इतना व्यापक प्रभाव पड़ा कि समाज के सभी वर्गों के लोग उनके प्रति श्रद्धालु बन गये। कहा जाता है कि मीराबाई उनकी भक्ति-भावना से बहुत प्रभावित हुईं और उनकी शिष्या बन गयी थीं।

'वर्णाश्र अभिमान तजि, पद रज बंदहिजासु की।
सन्देह-ग्रन्थि खण्डन-निपन, बानि विमुल रैदास की।।'

रचनाएँ

रैदास अनपढ़ कहे जाते हैं। संत-मत के विभिन्न संग्रहों में उनकी रचनाएँ संकलित मिलती हैं। राजस्थान में हस्तलिखित ग्रंथों में रूप में भी उनकी रचनाएँ मिलती हैं। रैदास की रचनाओं का एक संग्रह 'बेलवेडियर प्रेस', प्रयाग से प्रकाशित हो चुका है। इसके अतिरिक्त इनके बहुत से पद 'गुरु ग्रंथ साहिब' में भी संकलित मिलते हैं। यद्यपि दोनों प्रकार के पदों की भाषा में बहुत अंतर है तथापि प्राचीनता के कारण 'गुरु ग्रंथ साहब' में संग्रहीत पदों को प्रमाणिक मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। रैदास के कुछ पदों पर अरबी और फारसी का प्रभाव भी परिलक्षित होता है। रैदास के अनपढ़ और विदेशी भाषाओं से अनभिज्ञ होने के कारण ऐसे पदों की प्रामाणिकता में सन्देह होने लगता है। अत: रैदास के पदों पर अरबी-फारसी के प्रभाव का अधिक संभाव्य कारण उनका लोकप्रचलित होना ही प्रतीत होता है।

महत्त्व

आज भी सन्त रैदास के उपदेश समाज के कल्याण तथा उत्थान के लिए अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं। उन्होंने अपने आचरण तथा व्यवहार से यह प्रमाणित कर दिया है कि मनुष्य अपने जन्म तथा व्यवसाय के आधार पर महान् नहीं होता है। विचारों की श्रेष्ठता, समाज के हित की भावना से प्रेरित कार्य तथा सदव्यवहार जैसे गुण ही मनुष्य को महान् बनाने में सहायक होते हैं। इन्हीं गुणों के कारण सन्त रैदास को अपने समय के समाज में अत्यधिक सम्मान मिला और इसी कारण आज भी लोग इन्हें श्रद्धापूर्वक स्मरण करते हैं। संत कवि रैदास उन महान् सन्तों में अग्रणी थे, जिन्होंने अपनी रचनाओं के माध्यम से समाज में व्याप्त बुराइयों को दूर करने में महत्त्वपूर्ण योगदान किया। इनकी रचनाओं की विशेषता लोक-वाणी का अद्‌भुत प्रयोग रही हैं जिससे जनमानस पर इनका अमिट प्रभाव पड़ता है।

मधुर एवं सहज संत रैदास की वाणी ज्ञानाश्रयी होते हुए भी ज्ञानाश्रयी एवं प्रेमाश्रयी शाखाओं के मध्य सेतु की तरह है। गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी रैदास उच्च-कोटि के विरक्त संत थे। उन्होंने ज्ञान-भक्ति का ऊंचा पद प्राप्त किया था। उन्होंने समता और सदाचार पर बहुत बल दिया। वे खंडन-मंडन में विश्वास नहीं करते थे। सत्य को शुद्ध रूप में प्रस्तुत करना ही उनका ध्येय था। रैदास का प्रभाव आज भी भारत में दूर-दूर तक फैला हुआ है। इस मत के अनुयायी रैदासी या रविदासी कहलाते हैं।

रैदास की विचारधारा और सिद्धांतों को संत-मत की परम्परा के अनुरूप ही पाते हैं। उनका सत्यपूर्ण ज्ञान में विश्वास था। उन्होंने भक्ति के लिए परम वैराग्य अनिवार्य माना जाता है। परम तत्त्व सत्य है, जो अनिवर्चनीय है - 'यह परमतत्त्व एकरस है तथा जड़ और चेतन में समान रूप से अनुस्यूत है। वह अक्षर और अविनश्वर है और जीवात्मा के रूप में प्रत्येक जीव में अवस्थित है। संत रैदास की साधनापद्धति का क्रमिक विवेचन नहीं मिलता है। जहाँ-तहाँ प्रसंगवश संकेतों के रूप में वह प्राप्त होती है।' विवेचकों ने रैदास की साधना में 'अष्टांग' योग आदि को खोज निकाला है। संत रैदास अपने समय के प्रसिद्ध महात्मा थे। कबीर ने संतनि में रविदास संत' कहकर उनका महत्त्व स्वीकार किया इसके अतिरिक्त नाभादास, प्रियादास, मीराबाई आदि ने रैदास का ससम्मान स्मरण किया है। संत रैदास ने एक पंथ भी चलाया, जो रैदासी पंथ के नाम से प्रसिद्ध है। इस मत के अनुयायी पंजाब, गुजरात, उत्तर प्रदेश आदि में पाये जाते हैं।

आज भी सन्त रैदास के उपदेश समाज के कल्याण तथा उत्थान के लिए अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं। उन्होंने अपने आचरण तथा व्यवहार से यह प्रमाणित कर दिया है कि मनुष्य अपने जन्म तथा व्यवसाय के आधार पर महान नहीं होता है। विचारों की श्रेष्ठता, समाज के हित की भावना से प्रेरित कार्य तथा सद्यवहार जैसे गुण ही मनुष्य को महान बनाने में सहायक होते हैं। इन्हीं गुणों के कारण सन्त रैदास को अपने समय के समाज में अत्यधिक सम्मान मिला और इसी कारण आज भी लोग इन्हें श्रद्धापूर्वक स्मरण करते हैं।

रैदास के 40 पद गुरु ग्रन्थ साहब में मिलते हैं जिसका सम्पादन गुरु अर्जुन सिंह देव ने 16वीं सदी में किया था।

सतगुरु रविदास जी के पद

जाति-जाति में जाति हैं, जो केतन के पात।
रैदास मनुष ना जुड़ सके जब तक जाति न जात॥
तुम कहियत हो जगत गुर स्वामी॥
हम कहियत हैं कलयुग के कामी।

10

स्वामी हरिदास

स्वामी हरिदास भक्त कवि, शास्त्रीय संगीतकार तथा कृष्णोपासक सखी संप्रदाय के प्रवर्तक थे, जिसे 'हरिदासी संप्रदाय' भी कहते हैं। इन्हें ललिता सखी का अवतार माना जाता है। इनकी छाप रसिक है। इनके जन्म स्थान और गुरु के विषय में कई मत प्रचलित हैं। इनका जन्म समय कुछ ज्ञात नहीं है। हरिदास स्वामी वैष्णव भक्त थे तथा उच्च कोटि के संगीतज्ञ भी थे। प्रसिद्ध गायक तानसेन इनके शिष्य थे। सम्राट अकबर इनके दर्शन करने वृंदावन गए थे। 'केलिमाल' में इनके सौ से अधिक पद संग्रहित हैं। इनकी वाणी सरस और भावुक है। ये प्रेमी भक्त थे।

जीवन परिचय

श्री बांकेबिहारीजी महाराज को वृन्दावन में प्रकट करने वाले स्वामी हरिदासजी का जन्म विक्रम सम्वत् 1535 में भाद्रपद मास के शुक्लपक्ष की अष्टमी (श्री राधाष्टमी) के ब्रह्म मुहूर्त में हुआ था। आपके पिता श्री आशुधीर जी अपने उपास्य श्रीराधा-माधव की प्रेरणा से पत्नी गंगादेवी के साथ अनेक तीर्थों की यात्रा करने के पश्चात् अलीगढ़ जनपद की कोल तहसील में ब्रज आकर एक गांव में बस गए। हरिदास जी का व्यक्तित्व बड़ा ही विलक्षण था। वे बचपन से ही एकान्त-प्रिय थे। उन्हें अनासक्त भाव से भगवद्-भजन में लीन रहने से बड़ा आनंद मिलता था। हरिदासजी का कण्ठ बड़ा मधुर था और उनमें संगीत की

अपूर्व प्रतिभा थी। धीरे-धीरे उनकी प्रसिद्धि दूर-दूर तक फैल गई। उनका गांव उनके नाम से विख्यात हो गया। हरिदास जी को उनके पिता ने यज्ञोपवीत-संस्कार के उपरान्त वैष्णवी दीक्षा प्रदान की। युवा होने पर माता-पिता ने उनका विवाह हरिमति नामक परम सौंदर्यमयी एवं सद्‌गुणी कन्या से कर दिया, किंतु स्वामी हरिदास जी की आसक्ति तो अपने श्यामा-कुंजबिहारी के अतिरिक्त अन्य किसी में थी ही नहीं। उन्हें गृहस्थ जीवन से विमुख देखकर उनकी पतिव्रता पत्नी ने उनकी साधना में विन उपस्थित न करने के उद्देश्य से योगाग्नि के माध्यम से अपना शरीर त्याग दिया और उनका तेज स्वामी हरिदास के चरणों में लीन हो गया।

वृन्दावन प्रस्थान

विक्रम सम्वत् 1560 में पच्चीस वर्ष की अवस्था में हरिदास वृन्दावन पहुंचे। वहां उन्होंने निधिवन को अपनी तपोस्थली बनाया। हरिदास जी निधिवन में सदा श्यामा-कुंजबिहारी के ध्यान तथा उनके भजन में तल्लीन रहते थे। स्वामीजी ने प्रिया-प्रियतम की युगल छवि श्री बांकेबिहारीजी महाराज के रूप में प्रतिष्ठित की। हरिदासजी के ये ठाकुर आज असंख्य भक्तों के इष्टदेव हैं। वैष्णव स्वामी हरिदास को श्रीराधा का अवतार मानते हैं। श्यामा-कुंजबिहारी के नित्य विहार का मुख्य आधार संगीत है। उनके रास-विलास से अनेक राग-रागनियां उत्पन्न होती हैं। ललिता संगीत की अधिष्ठात्री मानी गई हैं। ललितावतार स्वामी हरिदास संगीत के परम आचार्य थे। उनका संगीत उनके अपने आराध्य की उपासना को समर्पित था, किसी राजा-महाराजा को नहीं। बैजूबावरा और तानसेन जैसे विश्व-विख्यात संगीतज्ञ स्वामी जी के शिष्य थे। मुगल सम्राट अकबर उनका संगीत सुनने के लिए रूप बदलकर वृन्दावन आया था। विक्रम सम्वत 1630 में स्वामी हरिदास का निकुंजवास निधिवन में हुआ।

सखी-सम्प्रदाय

स्वामी जी ने एक नवीन पंथ सखी-सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया। उनके द्वारा निकुंजोपासना के रूप में श्यामा-कुंजबिहारी की उपासना-सेवा की पद्धति विकसित हुई, यह बड़ी विलक्षण है। निकुंजोपासना में जो सखी-भाव है, वह गोपी-भाव नहीं है। निकुंज-उपासक प्रभु से अपने लिए कुछ भी नहीं चाहता, बल्कि उसके समस्त कार्य अपने आराध्य को सुख प्रदान करने हेतु होते हैं। श्री

निकुंज विहारी की प्रसन्नता और संतुष्टि उसके लिए सर्वोपरि होती है। राधाष्टमी के पावन पर्व में स्वामी हरिदास का पाटोत्सव (जन्मोत्सव) वृन्दावन में बड़े धूमधाम के साथ मनाया जाता है। सायंकाल मंदिर से चाव की सवारी निधिवन में स्थित उनकी समाधि पर जाती है। ऐसा माना जाता है कि ललितावतार स्वामी हरिदास की जयंती पर उनके लाडिले ठाकुर बिहारीजी महाराज उन्हें बधाई देने श्रीनिधिवन पधारते हैं। देश के सुप्रसिद्ध संगीतज्ञ निधिवन में स्वामीजी की समाधि के समक्ष अपना संगीत प्रस्तुत करके उनका आशीर्वाद लेते हैं।

हरिदास सम्प्रदाय

वृन्दावन के आधुनिक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सम्प्रदायों में से एक उल्लेखनीय सम्प्रदाय है, हरिदास सम्प्रदाय जिसकी संस्थापना स्वामी हरिदास द्वारा हुई थी। वृन्दावनस्थ आधुनिक मन्दिरों में विशिष्ट एक प्रख्यात मन्दिर है, जो श्री बाँके बिहारी जी के मन्दिर के नाम से लोक विश्रुत है। यह गुंसाई जी तथा उनके वशधरों के आधिपत्य में है। इस वंश परम्परा के लोगों की संख्या 19 वीं सदी में लगभग 500 थी। श्रीकृष्ण को समर्पित यह मन्दिर हरिदासी संप्रदाय का मुख्यावास मात्र ही नहीं, वरन् सम्पूर्ण भारत में यह एक मात्र मन्दिर है, जिस पर गोस्वामियों का एकाधिकार है। सत्तर हजार रुपयों की धनरशि से इनका पुनर्निर्माण निकट अतीत में ही हुआ। यह निधि दूर पास के यजमानों से तेरह वर्ष के अन्तराल में एकत्र की थी। सामान्य किन्तु अत्यन्त सारभूत स्वरूप के लाल पत्थर से निर्मित इस विशद वर्गाकार मन्दिर का प्रमुख केन्द्रीय द्वार संगमरमर से बना हुआ है, जो अत्यन्त प्रभावशाली है। यह भवन निर्माण शिल्प का एक प्रसन्न आदर्श प्रस्तुत करता है। यह सभ्य संसार के ऐसे कतिपय स्थानों में से एक है, जहाँ भारतीय शिल्प मृत अतीत की परिश्रम साध्य प्रति कृति मात्र न होकर एक जीवन्त कला है, जो निरन्तर स्वत: ही विकास की प्रक्रिया में प्रबर्द्धमान है। गुसाइयों के वंशानुक्रमानुसार यह सम्पत्ति दो भागों में विभक्त हुई। उसका एक भाग स्वयं एक ब्रह्मचारी का था, किन्तु उसके भ्राता जगन्नाथ के मेघश्याम, मुरारीदास और गोपीनाथदास नामक तीन पुत्र थे, जिनमें से तीसरे नि:सन्तान दिवंगत हो गये। शेष दोनों भाई वर्त्तमान वंश परम्परा के पूर्वज थे। जैसा कि ऐसे प्रकरणों में सामान्यत: होता है दोनों परिवार परस्पर संघर्षरत रहने लगे। एकाधिक बार शान्तिभंग होने की गम्भीर स्थिति के निवारणार्थ शासन को कानून की सहायता लेने को विवश होना पड़ा। अपने पूर्वज की महानता के परे कतिपय

गुंसाई ही सम्मान के अधिकारी होने का दावा कर सकते थे। या तो अपने वैदुष्य के कारण या अपनी नैतिकता की सटीकता के कारण, क्योंकि उनमें से बहुसंख्यक पढ़ लिख नहीं सकते थे। सामान्यत: उसके दो दावेदार थे। प्रत्येक 'बट' के लिये एक-एक। ये थे गुसाई जगदीश और किशोर चन्द्र। सम्प्रदाय के साहित्य की संकीर्ण सीमाओं में ये दोनों ही पक्ष अच्छे पढ़े लिखे थे।

हरिदास के सन्दर्भ में नाभा जी के मूल भक्तमाल में निम्नोक्त छन्द है–

आशधीर उद्योत कर रसिक छाप हरिदास की
जुगल नाम सौं नैम जपत नित कुंज बिहारी
अविंलोकित रहैं केलि सखी सुख को अधिकारी
गान कला गंधर्व श्याम श्यामा को तोषें
उत्तम भोग लगाय मोर मरकट तिमि पोषें
नृपति द्वार ठाड़े रहें दरशन आशा जासकी
आशधीर उद्योत कर रसिक छाप हरिदास की

इसके पश्चात् प्रियादास की टिप्पणिका या अनुपूरक इस प्रकार है–

टीका

श्री स्वामी हरिदास रास राशि को बषांनि सकै
रसिकता की छाप कोई जाप मधि पाई है
ल्यायौ कोऊ चोवा ताकौ अति मन भोवा वामै
डारयौ लै पुलनि यह खोवा हिय आइयै
जानि के सुजान कही लै दिषावौ लाल प्यारे
नैसिकु उघारे पट सुगन्ध बुड़ाइयै
पारस पषांन करि जल डरबाइ दियौ
कियौ तब शिष्य अंसैं नाना विधि गाइयै

अन्य तथ्य

कदाचित इसे सभी मानेगे कि इस विशिष्ट छन्द में शिष्य अपने गुरु से अधिक अस्पष्ट रहा है। भक्त सिंधु ने उक्त दोनों छन्दों का 211 पदों की कविता में विशदीकरण किया है तथा समस्त भ्रमों की कुंजी निम्नांकित विवरण में प्रदान की है-

कोल (अलीगढ़ का प्राचीन नाम) के समीपस्थ एक गाँव में, जो अब हरिदासपुर कहलाता है, एक सनाढ्य ब्राह्मण ब्रह्मधीर के जानधीर नामक एक सुपुत्र था। जिसके हृदय में गिरि धारण करने वाले श्रीकृष्ण के गिरधारी स्वरूप के प्रति विशेष समर्पण (भक्ति) भाव जाग्रत था और इस प्रकार उसने गोवर्धन के पावन पर्वत की अनेक तीर्थ यात्रायें की थीं। इसी प्रकार के एक अवसर पर उसने आशधीर रखा। अन्ततः आशधीर ने वृन्दावन के समीप स्थित एक छोटे से गाँव राजपुर के गंगाधर ब्राह्मण की आत्मजा से विवाह किया, जिसने संवत 1441 विक्रमी के भाद्रपद मास के कृष्ण पक्ष की अष्टमी को हरिदास को जन्म दिया। अपनी निपट शैशवावस्था से ही उसने अपनी भावी पवित्रता के संकेत दिये और अन्य बालकों के साथ खेलने के स्थान पर वह निरन्तर प्रार्थना और ध्यान में लगा रहता था। अपने माता-पता के अनुरोधों के परे उसने ब्रह्मचर्य का व्रत ले लिया और 25 वर्ष की आयु में वृन्दावन के सामने यमुना के बायें किनारे स्थित एक प्राकृतिक झील मानसरोवर पर एक एकान्तिक कुटी में रहने लगा। हरिदास तदनन्तर वृन्दावनस्थ निधिवन में चले गये और यहाँ उन्होंने विट्ठलविपुल को औपचारिक रूप से अपना शिष्य बनाया, जो उनके स्वयं के मातुल थे। शीघ्रमेव हरिदास जी की ख्याति दूर दूर तक फैल गई और उनके अनेक दार्शनार्थियों में से दिल्ली से दयालदास नामक एक खत्री एक दिन आया, जिसे अनायास दार्शनिक का पत्थर प्राप्त हुआ, जो सम्पर्क में आई प्रत्येक वस्तु को सोने में रूपान्तरित कर देता था। उसने यह पत्थर एक महान् निधि के रूप में स्वामी जी को भेंट किया। स्वामी जी ने वह यमुना में फेंक दिया। दाता के प्रवोधन को देखकर स्वामी जी उसे यमुना किनारे ले गये और उसे मुट्ठी भर रेती जल में से निकालने का आदेश दिया। जब उसने वैसा ही किया तो प्रत्येक कण उसी तरह की प्रतिकृति प्रतीत हुई, जो फेंक दिया गया था और जब परीक्षण किया तो वह उन्हीं गुणों से सम्पन्न पाया गया। तब खत्री की समझ में आया कि सन्तों को भौतिक सम्पदा की कोई आवश्यकता नहीं है लेकिन वे स्वयमेव परिपूर्ण होते हैं। तदनन्तर वह स्वामी हरिदास के शिष्यों में सम्मिलित हो गया।

यह सुनकर कि साधु को दार्शनिक का पत्थर भेंट किया गया है एक दिन जब स्वामी जी स्नान कर रहे थे, कुछ चोरों ने शालिग्राम को चुराने का अवसर पा लिया। उन्होंने सोचा कदाचित यही वह (पत्थर) हो। अपने उद्देश्य हेतु व्यर्थ जानकर उन्होंने (चोरों ने) उसे एक झाड़ी में फेंक दिया। जैसे ही सन्त उसकी खोज में उस स्थान से होकर निकले शालिग्राम की वाणी सुनाई दी कि मैं यहाँ

हूँ। उसी समय से प्रत्येक प्रातःकाल किसी चामत्कारिक माध्यम से स्वामी जी को नित्य एक स्वर्ण-मुद्रा प्राप्त होने लगी जिससे वे मन्दिर का भोग लगाते और जो बचता था, उससे वे अन्न क्रय करते, जिसे वे यमुना में मछलियों को और तट पर मोर और वानरों को खिलाते थे।

एक दिन एक कायस्थ ने एक सहस्त्र रुपये मूल्य के 'अतर' की बोतल भेंट की और यह देखकर जड़ीभूत हो गया कि स्वामी जी ने उपेक्षा भाव से उसे भूमि पर पटक दिया, जिससे बोतल टूट गई और बहुमूल्य 'अतर' सब नष्ट हो गया। परन्तु जब उसे मन्दिर ले जाया गया तो उसने पाया कि भेंट भगवान द्वारा स्वीकृत हो गई है, क्योंकि पूरा मन्दिर भवन इत्र की सुगन्धि से महक रहा था।

दिल्ली के सम्राट् के एक बिगड़ा हुआ मूर्ख बेटा था, जो अपमानपूर्वक वहाँ से निकाल दिया गया था। अपनी घुमक्कड़ी में संयोगवश वह वृन्दावन आ निकला और वहाँ सड़क पर सो गया। उषाकाल में स्वामी जी जब निधिवन से स्नानार्थ जा रहे थे, तो उससे टकरा गये और उसकी महानी सुनकर उसका तानसेन नाम रख दिया और मात्र अपनी इच्छा शक्ति के प्रयोग से उसे एक अप्रतिम संगीतज्ञ के रूप में परिवर्तित कर दिया। उसके दिल्ली लौटने पर सम्राट् उसकी विचक्षणता पर आश्चर्य विजड़ित रह गया और उसने वृन्दावन यात्रा की तथा उस गुरु के दर्शन करने की ठान ली, जिससे उसने शिक्षा ग्रहण की थीं तदनुसार, जब वह आगरा आया, तो वह मथुरा चला गया तथा भतरौंद तक आधे मार्ग घोड़े पर और वहाँ से पैदल निधिवन तक गया। सन्त ने अपने पुराने शिष्य का गरिमापूर्वक स्वागत किया और उसके शाही को देखा भी नहीं, यद्यपि वह जानते थे कि वह कौन है। अन्ततः जब सम्राट् ने निरन्तर कुछ करने योग्य सेवा की अभ्यर्थन की तो उसे वह समीपस्थ बिहारी घाट ले गये, जो वर्त्तमान में ऐसा लग रहा था जैसे कि प्रत्येक सीढ़ी बहुमूल्य स्वर्ण जड़ित पत्थर की हो और एक सीढ़ी में कुछ कमी दिखाते हुए सम्राट् से कहा कि उसके स्थान पर दूसरी रखवा दें। यह कार्य महान् सम्राट् की भी शक्ति से परे था। सम्राट् ने पवित्र वानरों और मयूरों के पोषणार्थ छोटा सा अनुदान देकर तुष्टि पाई और वह प्रभूत सदुपदेश प्राप्त करके अपने मार्ग चला गया।

स्वामी हरिदास के जीवन में अन्य किसी घटना का उल्लेख अभिलिखित नहीं मिलता। उनके अनन्तर उनके उत्तराधिकारी उनके मातुल विट्ठल विपुल और उनके पश्चात् बिहारीदास हुए। बिहारीदास प्रेम उन्माद में इतने निमग्न हो गये कि मन्दिर के प्रशासनार्थ जगन्नाथ नामक एक पंजाबी सारस्वत ब्राह्मण बुलाया

गया। उसकी मृत्यु के उपरान्त उसके अनेक उत्तराधिकारी आते गये, जिसे लिखना अनावश्यक प्रतीत होता है।

यही भक्तसिन्धु का विवरण है, जो भक्तमाल के दोनों अस्पष्ट संकेतों–अतर और दार्शनिक पत्थर, वानरों और मोरों के नित्य खिलाने और सम्राट् की वृन्दावन यात्रा–का स्पष्टीकरण प्रदान करता है। अन्य विषयों में स्वामी जी के उत्तराधिकारियों द्वारा स्वीकृत परम्पराओं से यह मेल नहीं खाता। क्योंकि उनका कथन है कि वह सनाढ्य नहीं प्रत्युत सारस्वत थे, यह कि उनका परिवार कोल या जलेसर से नहीं, प्रत्युत मुलतान के पास ऊछ से आया था और यह कि वह चार शताब्दी पूर्व नहीं, प्रत्युत अधिक से अधिक मात्र तीन शताब्दी पूर्व हुए थे। प्रतीत होता है कि भक्तसिन्धु का लेखक जाति में संघभेद का पक्षधर था, पचास वर्ष पूर्व या आसपास हुआ था। उसने तथ्यों को तदनुसार तोड़ मरोड़ लिया है। क्योंकि जगन्नाथ, जिसे वह कोल से बुलाता है, उसका नाम महन्तों की मूल तालिका में नहीं है, जो बाद में दी जायगी। तिथियों के सम्बन्ध में वह नितान्त असफल रहा है संवत 1441–संवत 1537 विक्रमी। वह स्पष्ट है, क्योंकि जिस सम्राट ने वृन्दावन यात्रा की थी, वह निश्चय ही अकबर था और वह संवत 1612 तक सिंहासनारूढ़ नहीं हुआ था। यह ठीक है कि प्रोफेसर विलसन अपने ग्रन्थ 'हिन्दुओं के धार्मिक सम्प्रदाय' में वर्णन करते हैं कि हरिदास चैतन्य के शिष्य और सत्यनिष्ठ साथी थे। चैतन्य का जन्म सन् 1485 ई. और शरीरान्त सन् 1527 ई. में हुआ। लेकिन, यद्यपि हरिदास ने चैतन्य के उपदेशों की भावना का समाहार किया था, फिर भी इस धारणा का कोई कारण नहीं कि उन दोनों के मध्य कोई वार्त्तालाप हुआ होगा। यदि ऐसा होता तो यह तथ्य भक्तमाल या उसके आधुनिक व्याख्याकारों से शायद ही छूट पाता।

ग्राउस के विचार

मेरे (ग्राउस) पास 680 पृष्ठों की एक छोटी पोथी हैं, जिसमें संस्थापक से लेकर इस हस्तलेख की तिथि संवत 1825 तक के समस्त महन्तों की तथा उनके लेखों की तालिका है। सूची यह है–

- स्वामी हरिदास
- विट्ठल विपुल
- बिहारिनदास
- नागरीदास

- सरसदास
- नवलदास
- नरहरदास
- रसिकदास तथा
- ललितकिशोर (ललितमोहनीदास)

प्रत्येक महन्ती के लिये बीस वर्ष रखे जायें, जो एक ऊँचा औसत है, क्योंकि इस पद पर एक वयस्क व्यक्ति का चयन होता है, स्वामी हरिदास के शरीरान्त की तिथि मात्र संवत 1665 विक्रमी ठहरती है। उनकी रचनाएँ शैली में तुलसीदास की कविता से अधिक पूर्ववर्ती नहीं हैं, जिनका देहावसान संवत 1680 में हुआ था। अतः प्रत्येक दशा में निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वे अकबर और जहाँगीर के शासनकाल में ईसवी की सोलहवीं शती के अन्त और सत्रहवीं शती के आरम्भ में विद्यमान रहे। उपरिलिखित सूची में प्रत्येक महन्त अपने पूर्ववर्ती महन्त का शिष्य उल्लिखित है और प्रत्येक ने कुछ भक्ति कविताएँ लिखी, जिन्हें साखी, चौबोला या पद कहा जाता है। सर्वाधिक मात्रा में लिखने वाले लेखक बहारिनदास हैं, जिनके पद 684 पृष्ठों का कलेवर भरते हैं। उनमें से अनेक पदों में अतिशयातिरेक में वे रहस्यात्मक भक्ति को अभिव्यक्त करते हैं, जो दिव्यभाव की अपेक्षा भौतिकता की द्योतक है। किन्तु निम्नोक्त उद्धरण सर्वथा पृथक् प्रकृति का है। यह स्वामी हरिदास के देहावसान की तिथि का अनुमोदन करने की दिशा में अधिक सहायक है, जो ऊपर निष्कर्षित है। क्योंकि इसमें सम्राट् अकबर और उसके प्रसिद्ध मित्र बीरबल की मृत्यु का नाम से उल्लेख है, जो सन् 1590 ई. में हुई थी।

राग गोरी

कहा गर्वे रे मृतक नर
स्वान स्यार की खान पांन तन अंठि चलत रे निलज निडर
यहै अवधि जग विदित जग बांभन बड़े भये बीरबर
मरत दूष्यौं हियौ न जियौ किसी न सहाइ अकबर
स्वासन निकसत सुर असुर रषि गेंथि काल करतर
इतहि न उतहि बीच ही भूल्यों है फिरत कौंन कौ थर
सुखद सरन हरिचरन कमल भजि बादि फिरत भटकत घर धर
श्री बिहारीदास हरिदास विपुलबल लटकि लग्यौ संग सर्वोपर ।।

संप्रदाय के संस्थापक की 'साधारण सिद्धान्त' और 'रास के पद' शीर्षक 41 पृष्ठों की केवल दो छोटी रचनाएँ हैं। पहली अपने मूल पाठ में नीचे उद्धृत की जाती है। मन्दिर के सभी भक्तों को इसका बहुलांश कंठस्थ है, यद्यपि निश्वयपूर्वक जान लिया गया कि उनमें से विरले ही इसके सामान्य अर्थ से आगे अधिक जानते हैं। किशोरचन्द्र जैसे बहुज्ञ पुजारी ने इसका अवलोकन किया और उसके कुछ अंशों के अर्थ किये। अन्य पंडितों का अभिमत लेने पर वे अर्थ अपर्याप्त पाये गये और विवशत: छोड़ने पड़े।

राग विभास

ज्यौंही ज्यौंही तुम राषत हौ त्यौंही त्यौंही रहियत है हों हरि
और तौ अचरचे पाय धरौं सु तौ कहौं कौन के पेंड भरि
जद्यपि हौं अपनौ भायौ कियौ चाहौं कैसे करि सकौं जो तु राखौ पकरि
हरिदास के स्वामी श्याम कुंज बिहारी
पिजरा के जनावर लौं तरफराय रहौ उड़िवे कौ कितौक करि ।।1।।
काहूकौ बस नांहि तुम्हारी कृपा ते सब होय श्री बिहारी बिहारिन
और मिथ्या प्रपंच काहे कौं भाषिये सो तौ है हारिनि
जाहि तुम सौं हित तासौं तुम हित करौ सब सुख कारनि
हरिदास के स्वामी श्यामा कुंजबिहारी प्राँननि के आधारनि ।।2।।
कबहूँ कबहूँ मन इत उत जातैं यातें अब कौन है अधिक सुष
बहुत भाँति नयत आंनि राष्यौ नाहितौ पावतौ दुष
कोटि कमलावन्य बिहारी तातै मुहा चुहीं सब सुष लियें रहत रुष
हरिदास के स्वामी श्यामा कुंज बिहारी दिन देषत रहौ विचित्र मुष ।।3।।
हरि भजि हरि भजि छांड़िन मान नर तन कौ
जिन बंछैरे जिन बंछैरे तिल तिल धनकौं
अनमागैं आगैं आवैगौ ज्यौं पल लागैं पलकौं
कहि हरिदास मीच ज्यौं आवै त्यौं धन आपुन कौ ।।4।।

राग बिलावल

हे हरि मोसौं न बिगारन कौं तोसौं न संम्हारन कौं मोहि तांहि परी होड़
कौंन धौं जी तै कौंन धौं हारै परि बादी न छोड़
तुम्हारी मायाबाजी पसारी विचित्र मोहे मुनि काके भूले कोउ
कहि हरिदास हम जीते हारे तुम तहु न तोड़ ।।5।।

वंदे अषत्यार भला

चित न डुलाव आव समाधि भीतर न होहु अगला
न फिर दर दर पदर पद न होहु अधला
कहि हरिदास करता किया सो हुवा सुमेर अचल चला ।।6।।
हित तौ कीजै कमल नैन सों जा हित के आगैं और हित के लागै फीकौ
कै हित कीजैं साधु संगत सौं ज्यौं कलमषि जाय जीकौ
हरि कौ हित ऐसौ जैसौ रंग मजीठ
संसार हिंत असौ जैसौ रंग कसूम दिन दुती कौ
कहि हरिदास हित कीजै बिहारी सौं और निवाहू जी कौ ।।7।।

तिनका बयार बस

ज्यौं भावै त्यौं उड़ाय ले जाय आपने रस
ब्रह्म लोक शिवलोक और लोक अस।
कहे हरिदास विचार देषौ विना बिहारी नाहिं जस ।।8।।
संसार समुद्र मनुष्य मीन नक्र मगर और जीब बहु बंदसि
मन बयार प्रेरे स्नेह फंद फदसि
लोभ पिंजरा लोभी मरजिया पदारथ चारि षंदषंदसि
कहि हरिदास तेई जीव पराभये जे गहि रहे चरन आनन्द नन्दसि ।।9।।
हरि के नाम कौ आलस कित करत है रे काल फिरत सर सांधे
बेर कुबेर कछू नहि जानत कद्यौ फिरत है कांधे
हीरा बहुत जवाहिर सच्चे राँचे कहा भयौ हस्ती दर बाँधे
कहि हरिदास महल में बनिता बनठाढ़ी भई
तव कछु न चलत जब आवत अन्त की आँधे ।।10।।
देषौ इनि लोगन की लावनि
बूझत नाँहिं हरिचरनकमल कौं मिथ्या जन्म गवावनि
जब जमदूत आय घेरत हैं करत आप मनभावनि
कहै हरिदास तबहीं चिरजीवै कुंजबिहारी चितवनि ।।11
मन लगाय प्रीति कीजै करवासों ब्रज बीचिन न दीजे सोहनी
वृन्दावन सो बन उपबन सौं गुंजमाल हाथ पोहनी
गो गोसुतन सों मृगी मृगसुतन सौं और तन नेंक न जोहनी
हरिदास के स्वामी श्यामां कुंज बिहारी सोचित ज्यों सिर पर दोहनी ।।12।।

राग कल्यान

हरि कौ असोई सब खेल
मृग तृष्णा जग ब्यापि रह्यों है कहूँ बिजौरौ न बेलि
धन मद जोवन मद राज मद ज्यौं पंछिन में डेल
कहै हरिदास यहै जिय जानौ तीरथ को सौ मेल ।।13।।
माई धनि वे मृगी जे कमल नैन कों पूजित अपनें अपनैं भरतारन सहित
धनिवे गाइ वछ वेई जे वशरस पीवत श्रवन दोना ज्यौं जाई न बहत
पंछी न होंहिं मुनि जन जेते केते सेवहि दिन काम क्रोध लोभ रहित
सुनि हरिदास हमारे पति ते कठिन जान दे हये राखत गहत ।।14।।

राग बरारी

लाल मेरे दूध की दोहनी
मारग जात माहि रह्यौ री अंचरा मेरौ जाहिन दंत हो बिना बोहना
नागरि गूजरि ठगि लीनों मेरौं लाल गोरोचन कौ तिलक भावै मोहना
हरिदास के स्वामी इहां असोई न्याव है या नगरी जिन बसोरी सोहनी ।।15।।

राग कान्हरो

झूठी बात सांची करि दिषावत हौ हरि नागर
निसि दिन बुनत उधेरत हौ जाय प्रपंच कौ सागर
ठाठ बनाय धरयौ मिहरी कौ है पुरुषतें आगर
सुनि हरिदास यहै जिय जानों सुपनें कौ सौ जागर ।।16।।
जगत प्रीति करि देवी नाहि नेंग टीकौ कोऊ
छत्रपति रंक लौ देषै प्रकृति विरोध न बन्यौ कोऊ
दिन जु गये बहुत जन्मन के ऐसौ जावौं जिन कोऊ
सुनि हरिदास मीत भलौ पायौ विहारी ऐसौ पावौ सब कोऊ ।।17।।
लोग तौ भूल्यौ भलै भूल्यों तुम मति भूलौ मालाधारी
आपनौ पति छाँड़ि आरनि सौं राति ज्यौं दारिन में दारी
स्याम कहत जे जीव मोते विमुख जोको जिन दूसरी कर डारी
कहि हरिदास जज्ञ देवता पितरन कौ शरधा भारी ।।18।।
जौलौ जीवै तौलौ हरि मज रे मन और बात सब बादि
द्यौस चार के हलभला में तू कहा लेगौ लादि

धनमद जोवनमद राजमद भूल्यौ नगर विवादि
कहि हरिदास लोभ चरपट भयौ काहे की लगै फिरादि ।।19।।
प्रेम समुद्र रूप रस गहिरे कैसे लागै घाट
बेकार्यौं दै जानि कहावत जानि पन्यौ को कहा परी वाट
काहू कौ सर सूधौ न परै मारत गाल गली गली हाट
कहि हरिदास जानि ठाकुर बिहारी तकत न ओट पाट ।।20।।

सम्बंधित प्रसंग

एक बार हरिदास भगवती यमुना की रेती में बैठे हुए थे। वसन्त-ऋतु का यौवन अपनी पराकाष्ठा पर था। चारों ओर कोयल की सुरीली और मीठी कण्ठाध्वनि कुंज-कुंज में अनुपम उद्दीपन का संचार कर रही थी। लताएं कुसुमित होकर पादपों के गाढ़ालिंगन में शयन कर रही थीं। वृन्दावन के मन्दिरों में धमार की धूम थी। रसिक हरिदास का मन डोल उठा। उनके प्राणप्रिय रास-बिहारी की मनोरम दिव्यता उनके नयनों में समा गयी। वृन्दावन की चिन्मयता की आरसी में अपने उपास्य की झांकी करके वे ध्यानस्थ हो गये। उन्हें तनिक भी बाह्य ज्ञान नहीं था। वे मानस-जगत की सीमा में भगवदीय कान्ति का दर्शन करने लगे। भगवान राधारमण रंगोत्सव में प्रमत्त होकर राधारानी के अंग-अंग को कर में कनक पिचकारी लेकर सराबोर कर रहे थे। ललिता, विशाखा आदि रासेश्वरी की ओर से नन्दनन्दन पर गुलाल और अबीर फेंक रही थीं। यमुना-जल रंग से लाल हो चला था। बालुका में गुलाल और बुक्के के कण चमक रहे थे। भगवान होली खेल रहे थे। हरिदास के प्राणों में रंगीन चेतनाएं लहराने लगीं। नन्दनन्दन के हाथ की पिचकारी छूट ही तो गयी। हरिदास के तन-मन भगवान के रंग में शीतल हो गये। उनका अन्तर्देश गहगहे रंग में सराबोर था। भगवान ने भक्त को ललकारा। हरिदास ने भगवान के पीताम्बर पर इत्र की शीशी उड़ेल दी। इत्र की शीशी जिसने भेंट की थी, वह तो उनके इस चरित्र से आश्चर्यचकित हो गया। जिस वस्तु को उसने इतने प्रेम से प्रदान किया था, उसे उन्होंने रेती में छिड़ककर अपार आनन्द का अनुभव किया। रसिक हरिदास की आंखें खुलीं। उन्होंने उस व्यक्ति की मानसिक वेदना की बात जान ली और शिष्यों के साथ श्रीबिहारी जी के दर्शन के लिये भेजा। उस व्यक्ति ने बिहारी जी का वस्त्र इत्र से सराबोर देखा, और देखा कि पूरा मन्दिर विलक्षण सुगन्ध से परिपूर्ण था। वह बहुत लज्जित हुआ, पर भगवान ने उसकी परम प्यारी भेंट स्वीकार कर ली, यह सोचकर उसने अपने सौभाग्य की सराहना की।

एक बार एक धनी तथा कुलीन व्यक्ति ने हरिदास से दीक्षित होने की इच्छा प्रकट की और उन्हें पारस भेट स्वरूप दिया। हरिदास ने पारस को पत्थर कहकर यमुना में फेंक दिया और उसे शिष्य बना लिया।

अपने दरबारी गायक भक्तवर तानसेन से एक बार अकबर ने पूछा- "क्या तुमसे बढ़कर भी कोई गाने वाले व्यक्ति हैं।" तानसेन ने विनम्रतापूर्वक स्वामी हरिदास जी का नाम लिया। अकबर ने उन्हें राजसभा में आमन्त्रित करना चाहा, पर तानसेन ने निवेदन किया कि वे कहीं आते-जाते नहीं। निधिवन जाने का निश्चय हुआ। हरिदास जी तानसेन के संगीत-गुरु थे। उनके सामने जाने में तानसेन के लिये कुछ भी अड़चन नहीं थी। रही अकबर की बात, सो उन्होंने वेष बदलकर एक साधारण नागरिक के रूप में उनका दर्शन किया। तानसेन ने जान-बूझकर एक गीत गलत राग में गाया। स्वामी हरिदास ने उसे परिमार्जित और शुद्ध करके कोकिल कण्ठ से जब अलाप भरना आरम्भ किया, तब अकबर ने संगीत की दिव्यता का अनुभव किया। तानसेन ने कहा- "स्वामी जी सम्राटों के सम्राट भगवान श्रीकृष्ण के गायक हैं।"

एक बार श्रीकृष्ण चैतन्य गौरांग महाप्रभु से वे बात कर रहे थे। ठीक उसी समय राधाकुण्ड निवासी रघुनाथदास मानसिक शृंगार में खोयी हुई प्रियाजी की पुष्प-वेणी खोजते उनके निकट आ पहुंचे। स्वामी जी ने अश्वत्थ वृक्ष के नीचे पता लगाकर उनकी मानसिक सेवा की, समस्त व्यवस्था का निरूपण कर दिया। स्वामी हरिदास ने रस की प्रीति-रीति चलायी, जिस पथ पर यती, योगी, तपी और संन्यासी ध्यान लगाकर भगवान के दर्शन से अपनी साधना सफल करते हैं और फिर भी उनके रूप-रस की कल्पना नहीं कर पाते, उसी को स्वामी हरिदास ने अपनाकर भगवान "रसो वै सरू" को मूर्तिमान पा लिया। स्वामी हरिदास जी 'निम्बार्क सम्प्रदाय' के अन्तर्गत "टट्टी सम्प्रदाय" के संस्थापक थे। संवत 1630 विक्रमी तक वे निधिवन में विद्यमान थे। वृन्दावन की नित्य नवीन भगवल्लीलामीय चिन्मयता के सौन्दर्य में उनकी रसोपासना ने विशेष अभिवृद्धि की।

11

रहीम

रहीम अथवा अब्दुर्रहीम खानखाना अथवा अब्दुर्रहीम खाँ हिन्दी के प्रसिद्ध कवि थे। अकबर के दरबार में इनका महत्त्वपूर्ण स्थान था। रहीम अकबर के नवरत्नों में से एक थे। गुजरात के युद्ध में शौर्य प्रदर्शन के कारण अकबर ने इन्हें 'खानखाना' की उपाधि दी थी। रहीम अरबी, तुर्की, फारसी, संस्कृत और हिन्दी के अच्छे ज्ञाता थे। इन्हें ज्योतिष का भी ज्ञान था। रहीम की ग्यारह रचनाएं प्रसिद्ध हैं। इनके काव्य में मुख्य रूप से शृंगार, नीति और भक्ति के भाव मिलते हैं। 70 वर्ष की उम्र में 1626 ई. में रहीम का देहांत हो गया।

जीवन परिचय

अब्दुर्रहीम खाँ, खानखाना मध्ययुगीन दरबारी संस्कृति के प्रतिनिधि कवि थे। अकबरी दरबार के हिन्दी कवियों में इनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये स्वयं भी कवियों के आश्रयदाता थे। केशव, आसकरन, मण्डन, नरहरि और गंग जैसे कवियों ने इनकी प्रशंसा की है। ये अकबर के अभिभावक बैरम खाँ के पुत्र थे। अब्दुल रहीम खानखाना का जन्म 17 दिसम्बर, 1556 ई. (माघ, कृष्ण पक्ष, गुरुवार) को सम्राट अकबर के प्रसिद्ध अभिभावक बैरम खाँ (60 वर्ष) के यहाँ लाहौर में हुआ था। उस समय रहीम के पिता बैरम खाँ पानीपत के दूसरे युद्ध में हेमू को हराकर बाबर के साम्राज्य की पुनर्स्थापना कर रहे थे। बैरम खाँ, अमीर अली शूकर बेग के वंश में से थे। जबकि उनकी माँ सुलताना बेगम मेवाती

जमाल खाँ की दूसरी पत्नी थीं। कविता करना बैरम खाँ के वंश की खानदानी परम्परा थी। बाबर की सेना में भर्ती होकर रहीम के पिता बैरम खाँ अपनी स्वामी भक्ति और वीरता से हुमायूँ के विश्वासपात्र बन गए थे।

हुमायूँ की मृत्यु के बाद बैरम खाँ ने 14 साल के शहजादे अकबर को राजगद्दी पर बैठा दिया और खुद उसका संरक्षक बनकर मुगल साम्राज्य को स्थापित किया था। लेकिन वर्दी खानखाना के प्राणदण्ड, दरबारियों की ईर्ष्या, अकबर की माता हमीदा बानो और धाय माहम अनगा की दुरभि सन्धि एवं बाबर की बेटी गुलरुख बेगम की लड़की सईदा बेगम से शादी तथा अमीरों के सामने अकबर के रूप में उपस्थित होने के विकल्प ने बैरम खाँ को सन् 1560 में अकबर के पूर्ण राज्य ग्रहण करने से धीरे-धीरे विद्रोही बना दिया था।

पिता बैरम खाँ की हत्या

आखिरकार हारकर अकबर के कहने पर बैरम खाँ हज के लिए चल पड़े। वह गुजरात में पाटन के प्रसिद्ध सहस्रलिंग तालाब में नौका विहार या नहाकर जैसे ही निकले, तभी उनके एक पुराने विरोधी-अफगान सरदार मुबारक खाँ ने धोखे से उनकी पीठ में छुरा भोंककर उनका वध कर डाला। कुछ भिखारी लाश उठाकर फकीर हुसामुद्दीन के मकबरे में ले गए और वहीं पर बैरम खाँ को दफना दिया गया। 'मआसरे रहीमी' ग्रंथ में मृत्यु का कारण शेरशाह के पुत्र सलीम शाह की कश्मीरी बीवी से हुई लड़की को माना गया है, जो हज के लिए बैरम खाँ के साथ जा रही थी। इससे अफगानियों को अपनी बेहज्जती महसूस हुई और उन्होंने हमला करके बैरम खाँ को समाप्त कर दिया।

लेकिन यह सम्भव नहीं लगता, क्योंकि ऐसा होने पर तो रहीम के लिए भी खतरा बढ़ जाता। उस वक्त पूर्ववर्ती शासक वंश के उत्तराधिकारी को समाप्त कर दिया जाता था। वह अफगानी मुबारक खाँ मात्र बैरम खाँ का वध कर ही नहीं रुका, बल्कि डेरे पर आक्रमण करके लूटमार भी करने लगा। तब स्वामीभक्त बाबा जम्बूर और मुहम्मद अमीर 'दीवाना' चार वर्षीय रहीम को लेकर किसी तरह अफगान लुटेरों से बचते हुए अहमदाबाद जा पहुँचे। चार महीने वहाँ रहकर फिर वे आगरा की तरफ चल पड़े। अकबर को जब अपने संरक्षक की हत्या की खबर मिली तो उसने रहीम और परिवार की हिफाजत के लिए कुछ लोगों को इस आदेश के साथ वहाँ भेजा कि उन्हें दरबार में ले आएँ।

रहीम को अकबर का संरक्षण

बादशाह अकबर का यह आदेश बैरम खाँ के परिवार को जालौर में मिला, जिससे कुछ आशा बंधी। रहीम और उनकी माता परिवार के अन्य सदस्यों के साथ सन् 1562 में राजदरबार में पहुँचे। अकबर ने बैरम खाँ के कुछ दुश्मन दरबारियों के विरोध के बावजूद बालक रहीम को बुद्धिमान समझकर उसके लालन-पालन का दायित्व स्वयं ग्रहण कर लिया। अकबर ने रहीम का पालन-पोषण तथा शिक्षा-दीक्षा शहजादों की तरह शुरू करवाई, जिससे दस-बारह साल की उम्र में ही रहीम का व्यक्तित्व आकार ग्रहण करने लगा। अकबर ने शहजादों को प्रदान की जाने वाली उपाधि मिर्जा खाँ से रहीम को सम्बोधित करना शुरू किया।

अकबर रहीम से बहुत अधिक प्रभावित था और उन्हें अधिकांश समय तक अपने साथ ही रखता था। रहीम को ऐसे उत्तरदायित्व पूर्ण काम सौंपे जाते थे, जो किसी नए सीखने वाले को नहीं दिए जा सकते थे। परन्तु उन सभी कामों में 'मिर्जा खाँ' अपनी योग्यता के बल पर सफल होते थे। अकबर ने रहीम की शिक्षा के लिए मुल्ला मुहम्मद अमीन को नियुक्त किया। रहीम ने तुर्की, अरबी एवं फारसी भाषा सीखी। उन्होंने छन्द रचना, कविता करना, गणित, तर्क शास्त्र और फारसी व्याकरण का ज्ञान प्राप्त किया। संस्कृत का ज्ञान भी उन्हें अकबर की शिक्षा व्यवस्था से ही मिला। काव्य रचना, दानशीलता, राज्य संचालन, वीरता और दूरदर्शिता आदि गुण उन्हें अपने माँ - बाप से संस्कार में मिले थे। सईदा बेगम उनकी दूसरी माँ थीं। वह भी कविता करती थीं।

रहीम शिया और सुन्नी के विचार-विरोध से शुरू से आजाद थे। इनके पिता तुर्कमान शिया थे और माता सुन्नी। इसके अलावा रहीम को छह साल की उम्र से ही अकबर जैसे उदार विचारों वाले व्यक्ति का संरक्षण प्राप्त हुआ था। इन सभी ने मिलकर रहीम में अद्‌भुत विकास की शक्ति उत्पन्न कर दी। किशोरावस्था में ही वे यह समझ गए कि उन्हें अपना विकास अपनी मेहनत, सूझबूझ और शौर्य से करना है। रहीम को अकबर का संरक्षण ही नहीं, बल्कि प्यार भी मिला। रहीम भी उनके हुक्म का पालन करते थे, इसलिए विकास का रास्ता खुल गया। अकबर ने रहीम से अंग्रेजी और फ्रेंच भाषा का भी ज्ञान प्राप्त करने को कहा। अकबर के दरबार में संस्कृत के कई विद्वान् थे, बदाऊंनी खुद उनमें से एक था।

विवाह

रहीम 'मिर्जा खाँ' की कार्यकुशलता, लगन और योग्यता देखकर अकबर ने उनको शासक वंश से सीधे सम्बद्ध करने का फैसला किया, क्योंकि ऐसा करके ही रहीम के दुश्मनों का मुँह बन्द किया जा सकता था और उन्हें अन्त:पुर की राजनीति से बचाया जा सकता था। अकबर ने अपनी धाय माहम अनगा की पुत्री और अजीज कोका की बहन 'माहबानो' से रहीम का निकाह करा दिया। रहीम का विवाह लगभग सोलह साल की उम्र में कर दिया गया था। माहबानो से रहीम के तीन पुत्र और दो पुत्रियाँ हुईं। पुत्रों का नाम इरीज, दाराब और करन अकबर के द्वारा ही रखा गया था। पुत्री जाना बेगम की शादी शहजादा दानियाल से सन् 1599 में और दूसरी पुत्री की शादी मीर अमीनुद्दीन से हुई। रहीम को सौधा जाति की एक लड़की से रहमान दाद नामक एक पुत्र हुआ और एक नौकरानी से मिर्जा अमरुल्ला हुए। एक पुत्र हैदर कुली हैदरी की बचपन में ही मृत्यु हो गई थी।

रहीम का भाग्योदय

रहीम

रहीम के भाग्य का उत्कर्ष सन् 1573 से शुरू होता है। जो अकबर के समय सन् 1605 तक चलता रहा। इसी बीच बादशाह अकबर एक बार रहीम से नाराज भी हो गए, लेकिन ज्यादा दिनों तक यह नाराजगी नहीं रह सकी। सन् 1572 में जब अकबर पहली बार गुजरात विजय के लिए गया तो 16 वर्षीय रहीम 'मिर्जा खाँ' उसके साथ ही थे। खान आजम को गुजरात का सूबेदार नियुक्त करके बादशाह अकबर लौट आए। लेकिन उसके लौटते ही खान आजम को गुजराती परेशान करने लगे। उसे चारों ओर से नगर में घेर लिया गया। यह समाचार पाकर बादशाह अकबर सन् 1573 में 11 दिनों में ही साबरमती नदी के किनारे पहुँच गया। रहीम 'मिर्जा खाँ' को अकबर के नेतृत्व में मध्य कमान का कार्यभार सौंपा गया। मिर्जा खाँ ने बड़ी बहादुरी से युद्ध करके दुश्मन को परास्त किया। यह उनका पहला युद्ध था।

अकबर के साथ ही रहीम लौट आए। कुछ वक्त बाद मिर्जा खाँ को राणा प्रताप, जो उन दिनों दक्षिणी पहाड़ियों के दुर्गम जंगल में थे, से लड़ने के लिए राजा मानसिंह और भगवान दास के साथ भेजा गया। आंशिक सफलता के बाद

भी जब राणा प्रताप अपराजित रहे तो शाहवाज खाँ के नेतृत्व में पुनः सेना भेजी गई। इसमें भी रहीम 'मिर्जा खाँ' शामिल थे जिन्होंने 4 अप्रैल, 1578 को दोबारा आक्रमण किया। अभी तक रहीम प्रसिद्ध सेनानायकों के नेतृत्व में युद्ध का अनुभव प्राप्त कर रहे थे।

रहीम मिर्जा खाँ को जिम्मेदारी का पहला स्वतंत्र पद सन् 1580 में प्राप्त हुआ। फिर अकबर ने उन्हें मीर अर्ज के पद पर नियुक्त किया। इसके बाद सन् 1583 में उन्हें शहजादा सलीम का अतालीक (शिक्षक) बना दिया गया। रहीम को इसे नियुक्ति से बहुत खुशी हासिल हुई। उन्होंने इस उपलक्ष्य में लोगों को एक शानदार दावत दी, जिसमें खुद बादशाह अकबर भी मौजूद था। मिर्जा खाँ और उनकी पत्नी माहबानो को बादशाह ने उपहारों से सम्मानित किया।

रहीम अभी इस दायित्व का निर्वाह कर ही रहे थे कि उन्हें खबर मिली कि आगरे के किले से भागे हुए कैदी मुजफ्फर खाँ ने काठियों आदि के साथ मिलकर फिर सेना तैयार करनी शुरू कर दी है। बैरम खाँ का दुश्मन शहाबुद्दीन उस वक्त गुजरात का सूबेदार था। वह अकबर का हुक्म नहीं मान रहा था। अकबर को इस बात का शक था कि वह विश्वासघात कर रहा है।

गुजरात की सूबेदारी

अकबर के शासनकाल में सन् 1580 से सन् 1583 तक कठिन समय था, क्योंकि उसके दरबार के अमीर उसके खिलाफ साजिश रच रहे थे और दक्षिण में स्थिति विपरीत थी। ऐसे वक्त में अकबर ने रहीम 'मिर्जा खाँ' को गुजरात की सूबेदारी देकर दुश्मन को पराजित करने के लिए भेजा। उधर मुजफ्फर खाँ ने एतमाद खाँ को हराकर अहमदाबाद पर अधिकार कर लिया था। साथ ही प्राप्त खजाने से 40, 000 सेना खड़ी कर ली थी।

बादशाह अकबर ने 22 सितंबर, 1583 को फतेहपुर सीकरी के राजपूतों और बाड़ा के सैयदों तथा पठान सैनिकों के साथ रहीम को विदा किया। रहीम इन बहादुर सैनिकों सहित द्रुतगति से आगे बढ़ते हुए मिरथा पहुँचे, जहाँ उन्हें मुजफ्फर खाँ के द्वारा कुतुबुद्दीन की हत्या और भड़ौच पर अधिकार का समाचार मिला। रहीम अपने साथ के लोगों से यह खबर छिपाए तेजी से आगे बढ़ते हुए सिरोही जा पहुँचे, जहाँ निजामुद्दीन उनकी अगवानी में खड़े थे। इससे उन्हें नवीनतम स्थिति का पता चला। 31 दिसम्बर को वह पाटन पहुँचे और एक दिन रुककर मुगल अधिकारियों की गोष्ठी में विचार-विमर्श किया। लोगों ने रहीम को

मालवा सेना की प्रतीक्षा करने की सलाह दी लेकिन विश्वसनीय मित्रों मुंशी दौलत खाँ लोदी ने कहा कि यही उचित अवसर है। वे आक्रमण करके 'खानखाना' की उपाधि प्राप्त करें, क्योंकि यह उपाधि उनके पिता को भी मिली थी। रहीम को मीर मुंशी दौलत खाँ लोदी की बात जंची। वे आक्रमण करने के लिए चल पड़े। 12 जनवरी, 1584 को उन्होंने अहमदाबाद से 6 मील दूर सरखेज गाँव के निकट साबरमती नदी के बाएँ किनारे पर पहुँचकर डेरा डाल दिया। मुजफ्फर खाँ की सेना का पड़ाव नदी के उस पार था। उसके पास 40, 000 सेना थी जबकि रहीम के पास मात्र 10, 000 सेना थी। ऐसी हालत में नदी पार करना बहुत ही खतरनाक सिद्ध हो सकता था।

इन हालात का सामना रहीम ने जिस मनौवैज्ञानिक पद्धति से किया, वह युद्ध विज्ञान के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। रहीम ने पदाधिकारियों को एक पत्र पढ़कर सुनाया कि बादशाह एक विशाल सेना लेकर खुद आ रहे हैं और उनके आने तक आक्रमण न किया जाए। इससे अमीरों का मनोबल बढ़ा। वे सेनापति के आदेशों का पालन करने में लग गए। दुश्मनों को जब अपने जासूसों से पता चला कि बादशाह खुद आ रहे हैं तो 16 जनवरी को नदी पार करके मुजफ्फर खाँ ने जल्दबाजी के साथ आक्रमण कर दिया।

अपनी रणनीति के अनुसार रहीम 300 चुने हुए वीरों और 100 विशालकाय हाथियों के साथ सेना के मध्य में रहते हुए युद्ध भूमि में उतरे। राजपूतों और सैयदों ने इस युद्ध में बड़ी वीरता का प्रदर्शन किया। चारों तरफ मृत्यु का ताण्डव था। दोनों पक्षों को जब मुजफ्फर खाँ ने गुत्थमदृगुत्था देखा तो सात हजार सैनिकों के साथ मध्य भाग की ओर बढ़ा। मुगल सैनिक विशाल सेना को मध्य भाग की तरफ आता देख युद्ध स्थल से भागने लगे। ऐसी स्थिति में रहीम ने हाथियों की सेना आगे करने की युद्धनीति अपनाई। गजराजों द्वारा कुचले जाने से शत्रु पक्ष में त्रहि-त्रहि मच गई। जब तक वे सम्भलते, तब तक निजामुद्दीन ने पीछे से और राय दुर्ग सिसौदिया ने बाईं तरफ से आक्रमण कर दिया।

कंधार पर आक्रमण

रहीम खानखाना जौनपुर में मुश्किल से एक वर्ष रहे होंगे कि 4 जनवरी, 1590 को बादशाह अकबर ने विशाल सेना के साथ उन्हें कंधार विजय के लिए भेज दिया। खर्च आदि के लिए मुलतान और भक्कर जागीर के रूप में प्रदान किया। रहीम ने रास्ते में ही बलूचियों को पराजित करने का फैसला किया।

लेकिन उन्होंने कंधार जीतने के पहले सिन्ध के शासक जानी बेग, जो मुजफ्फर खाँ से ज्यादा चालाक और सामरिक दृष्टि से सम्पन्न था, को पराजित करना जरूरी समझा। इसके लिए खानखाना ने बादशाह से इजाजत माँगी जो उन्हें तत्काल मिल गई।

रहीम उपजाऊ और सम्पन्न प्रान्त पर अधिकार करके सैनिकों की जरूरतें पूरी करना चाहते थे। वे अभी मुलतान से कुछ ही मील दूर थे कि बलूची सरदारों ने सामूहिक रूप से खानखाना की सेवा में हाजिर होकर अकबर के प्रति अपनी स्वामीभक्ति प्रदर्शित की और सिन्ध की विजय में सहयोग का पूरा आश्वासन दिया।

यह बात जब जानी बेग को पता चली तो उसने खुसरो के नेतृत्व में 120 सशस्त्र नावों, जिनमें धनुर्धर सैनिक, बन्दूक चलाने वाले एवं 200 युद्ध तोपें थीं, को जलमार्ग से और दो टुकड़ियों को नदी के किनारों से भेजा। खानखाना ने जिस किले के पास डेरा डाला था, वह स्थान नदी से काफी ऊँचाई पर ढलुआ बलुई जमीन पर स्थित था। अतः नदी से निकलकर आक्रमण करना मुश्किल था। 31 अक्तूबर, 1591 को शत्रु-दल धारा के विपरीत आगे बढ़ता दिखाई पड़ा। अब युद्ध अनिवार्य हो गया था। यह भयानक युद्ध 24 घन्टे के बाद तब बन्द हुआ जब खुसरों हारकर भाग गया। लेकिन जानी बेग इससे हतोत्साहित नहीं हुआ और बुहरी किले में अपना डेरा डाले पड़ा रहा, क्योंकि यह स्थल सुरक्षित था।

खानखाना की उपाधि

ऐसा होने से दुश्मनों ने यह समझा कि एक तरफ से अकबर और दूसरी तरफ से मालवा की सेना ने एक साथ आक्रमण कर दिया है। वे तत्काल मैदान छोड़कर भागने लगे। परिणामतः मुजफ्फर खाँ को भी वहाँ से भागकर अपनी जान बचानी पड़ी। इस विजय से रहीम 'मिर्जा खाँ' की बहादुरी की धाक जम गई और उनके दरबारी दुश्मनों के मुँह बन्द हो गए। इसी के साथ रहीम को 'खानखाना' की उपाधि तथा कई जागीरों से सम्मानित किया गया।

सन 1589 में जब बादशाह अकबर अपने परिवार के साथ कश्मीर और काबुल घाटी की यात्रा पर गया तो रहीम खानखाना भी उसके साथ थे। रहीम ने अवकाश के दिनों में बाबर की आत्मकथा तजुके बाबरी का तुर्की से फारसी में अनुवाद किया। फिर 24 नवम्बर, 1589 को जब बादशाह यात्रा से लौट रहे थे तो उन्होंने यह अनुवाद उन्हें रास्तें में ही भेंट किया।

अकबर ने रहीम की साहित्यिक कृति से प्रसन्न होकर राजा टोडरमल की मृत्यु से रिक्त साम्राज्य के वकील के पद पर उन्हें अधिष्ठित कर दिया। रहीम के पिता बैरम खाँ भी साम्राज्य के वकील थे। यद्यपि उस समय तक इस पद के अंधकार कुछ कम हो गए थे, लेकिन बादशाह और शहजादों के अधिकारों के बाद यही सर्वोच्च पद था। रहीम को जौनपुर का सूबा जागीर के रूप में प्रदान किया गया। उन्हें अवकाश के दिनों में दरबार में आने वाले कवियों आदि को दान देना पड़ता था। इसके अलावा साम्राज्य के सर्वश्रेष्ठ अमीर के खर्चे भी अधिक थे। रहीम को प्रतिष्ठा, कुल की मर्यादा और आन-बान के अनुसार खर्च करना पड़ता था, इस वजह से उनकी आर्थिक स्थिति कमजोर होने लगी थी।

खानखाना की युद्धनीति

रहीम खानखाना के सैनिकों को अब काफी परेशानियाँ उठानी पड़ीं। दो महीने घेरा डालने के बाद भी उन्हें सफलता नहीं मिली। जानी बेग के छापामार सैनिक किले से निकलकर मुगलों को परेशान करते और खाद्य सामग्री लूट लेते थे। जब खाद्यान्न की कमी हो गई तो खानखाना ने बादशाह से मदद माँगी। बादशाह ने ढाई लाख रुपये, अनाज और तोपों से सजी कुछ नौकाएँ भेजीं। लेकिन जब इससे भी समस्या हल नहीं हुई तो उन्होंने जानी बेग के रसद आपूर्ति के स्रोतों पर अधिकार करना जरूरी समझा। उन्होंने मुगल सैनिकों के पाँच दस्तों की सहायता से शत्रु के रसद आपूर्ति ठिकानों पर कब्जा कर लिया। इससे खानखाना के सैनिकों को खाद्य सामग्री की पूर्ति सम्भव हो सकी।

तत्पश्चात् खानखाना ने अपनी युद्धनीति के अनुसार आक्रमण करके बुहरी किले को ध्वस्त कर दिया। शत्रुओं ने जमकर संघर्ष किया, लेकिन अन्ततः पराजित हुए। जानी बेग ने युद्ध भूमि से भागकर उरनपुर में शरण ली। खानखाना ने इस बार किले की घेराबन्दी करने में चूक नहीं की। यह घेरा एक माह तक चलता रहा। इतने में बारिश शुरू हो गई। लगातार बारिश के कारण तीन तरफ से नदी का जल तथा एक तरफ मुगलों की घेराबन्दी से जानी बेग की खाद्य आपूर्ति लगभग समाप्त हो गई। नदी से सामग्री पहुँचना मुगलों के कब्जे के कारण असम्भव था। तोपों की गोलाबारी से भीतर रहना मुश्किल हो गया था। लोग ऊँट आदि खाने लगे थे। जानी बेग के सैनिक भूख से व्याकुल होकर खानखाना की शरण में आने लगे। खानखाना की उदारता के फलस्वरूप अनेक सिन्धी तो मुगल सेना में शामिल हो गए।

सिन्ध पर विजय

आखिर में जानी बेग ने अपने दूतों से कहलवाया कि अल्लाह के नाम पर अपने ही धर्म के लोगों की हत्या रोक दें। खानखाना ने दूतों का स्वागत किया और यह सन्धि प्रस्ताव स्वीकृत किया कि सेहवान दुर्ग एवं बीस युद्धपोत मुगलों को दे दिए जाएँ। जानी बेग अपनी पुत्री का विवाह इरीज से करें तथा सिन्ध के शासक राजदरबार में उपस्थित होकर बादशाह की अधीनता स्वीकार कर लें। सन्धि होने के बाद सैनिक-घेरा उठा लिया गया। जानी बेग ने तीन माह का वक्त माँगा ताकि वह ठट्टा जाकर अपनी राजधानी लाहौर ले चलने का प्रबन्ध कर सके।

सेहवान दुर्ग की चाबी खानखाना के वहाँ पर पहुँचने पर दुर्गपाल के द्वारा प्रदान कर दी गई। तीन महीने का वक्त समाप्त होने पर भी जब जानी बेग नहीं आया तो खानखाना ने ठट्टा की तरफ प्रस्थान किया। जानी बेग राजधानी से निकलकर फतेहाबाद में डेरा डाले पुर्तगाली सेना के आने का इंतजार कर रहा था। मुगल सेना फतेहाबाद पहुँच गई। तब जानी बेग ने आगे बढ़कर खानखाना का स्वागत किया। उसकी धूर्तता तथा बहानेबाजी नहीं चल पाई। खानखाना ने मुगलों को उसकी मित्रता का विश्वास दिलाने के लिए उससे जहाजी बेड़ा समर्पित करने को कहा।

जानी बेग के पास दो ही रास्ते थे- गिरफ्तारी या अधीनता। उसने अपना जहाजी बेड़ा जो कि उसकी रीढ़ था, मुगलों को दे दिया। सिन्ध पर विजय प्राप्त करके खानखाना ठट्टा चले गए। वहाँ से प्रस्थान करते समय अपनी सारी सामग्री जो उनके पास थी, अपने अमीरों और कर्मचारियों में वितरित कर दी। वे फतेहाबाद में लौटकर आए ही थे कि उन्हें पराजित शत्रु के साथ दरबार में उपस्थित होने का शाही आदेश मिला। खानखाना जानी बेग के साथ अविलम्ब वहाँ से चलकर दरबार में हाजिर हुए। इससे उनकी आज्ञाकारिता पर बादशाह अकबर बहुत खुश हुआ।

दक्षिण को प्रस्थान

सिन्ध पर विजय के बाद खानखाना दरबार में 6 माह ही रह पाए थे कि बादशाह ने उन्हें दक्षिण की ओर प्रस्थान करने को कहा। खानखाना मालवा के मार्ग से दक्षिण को रवाना हुए। कुछ दिन भिलसा में रहकर 19 जुलाई, 1594 को दक्षिण की ओर सीधे न जाकर वे उज्जैन के रास्ते से चल पड़े। वे आक्रमण

के पहले दक्षिण के द्वार पर स्थित खानदेश पर भी अधिकार करना चाहते थे। शहजादा मुराद रहीम का इन्तजार कर रहा था। खानखाना की देरी उसे पसन्द नहीं थी। दरबारी और अमीर खानखाना के विरुद्ध मुराद के कान भर रहे थे। खानखाना का यह कार्य उनकी दूरदर्शिता और कूटनीति कौशल का प्रमाण था। परन्तु शहजादा नाराज होता गया और उसने जून, 1565 में अहमदनगर की ओर प्रस्थान कर दिया।

मुगलों, राजपूतों, सैयदों और खानदेश की सम्मिलित सेना के साथ खानखाना ने शाहपुर से चलकर पाथरी से 12 कोस दूर गोदावरी के तट पर अस्थि नामक स्थान पर डेरा डाल दिया। नदी के दूसरे किनारे पर चाँदबीबी के राष्ट्र जागरण के फलस्वरूप आदिल शाही, कुतुब शाही, निजाम शाही और बीदर शाही की संयुक्त सेनाएँ वीर योद्धा सुहेल खाँ के नेतृत्व में डेरा डाले हुए थीं। पूरे पन्द्रह दिनों तक दोनों ही गोदावरी नदी के तट के आर-पार एक-दूसरे के आक्रमण का इन्तजार करते रहे। जब खानखाना को दक्षिणियों की शक्ति का अनुमान हो गया तो उन्होंने अपने साथियों राजा अली खाँ और शाहरुख के साथ 26 जनवरी, 1597 को नदी पार करके दक्षिण की सेना पर आक्रमण कर दिया।

रहीम खानखाना की गिरफ्तारी

दक्षिण के इस अभियान से संतुष्ट होकर शहजादा खुर्रम खानदेश, बरार और अहमदनगर की सूबेदारी खानखाना को देकर अपने पिता से मिलने माण्डू चला गया। बादशाह ने खुर्रम को शाहजहाँ की उपाधि दी तथा सिंहासन से उठकर उसका स्वागत किया। मलिक अम्बर अपनी आदत के अनुसार अधिक दिनों तक अधीन नहीं रह सकता था। उसने सन्धि तोड़ दी और मुगल थानेदारों पर हमला कर दिया। ये खानखाना की विपत्ति के दिन थे। दामाद शाहनवाज खाँ की अधिक मदिरापान के कारण मृत्यु हो गई और रहीम का पुत्र रहमान दाद भी चल बसा। दाराब को बालाघाट से बालपुर और वहाँ से सन् 1620 में बुरहानपुर खदेड़ दिया गया। बुरहानपुर में दाराब और खानखाना दोनों ही गिरफ्तार कर लिए गए। फिर तभी मुक्त हुए जब शाहजहाँ वहाँ पर आया। इस प्रकार सन् 1620 से 1626 तक का समय रहीम के राजनीतिक जीवन का ह्रास काल रहा। सम्राट अकबर के शासन काल में उनकी गणना अकबर के नौ रत्नों में होती थी। जहाँगीर के राजगद्दी पर बैठने पर रहीम ने अक्सर जहाँगीर की नीतियों का विरोध किया। इसके फलस्वरूप जहाँगीर की दृष्टि बदली और उन्हें कैद कर दिया। उनकी उपाधियाँ

और पद जब्त कर लिए गए। सन् 1625 में रहीम ने दरबार में जहाँगीर के सामने उपस्थित होकर माफी माँगी और वफादारी का प्रण किया। बादशाह जहाँगीर ने न सिर्फ उन्हें माफ कर दिया बल्कि लाखों रुपये दिए, उपाधियाँ और पद लौटा दिए। जहाँगीर की इस कृपा से अभिभूत होकर रहीम ने अपनी कब्र के पत्थर पर यह दोहा खुदवाने की वसीयत की–

मरा लुत्फे जहाँगीर, जे हाई ढाते रब्बानी।
दो वार: जिन्दगी दाद, दो वार: खानखानी।।

अर्थात् ईश्वर की सहायता और जहाँगीर की दया से दो बार जिन्दगी और दो बार खानखाना की उपाधि मिली।

व्यापक नरसंहार

भयानक संघर्ष के बाद कुतुब शाही और निजाम शाही सैनिक मुगलों की मार से भागने लगे। तब सेना के मध्य भाग में सुहेल खाँ ने पूरी शक्ति के साथ मुगलों पर आक्रमण कर दिया। मार-काट से डरकर मुगल सैनिक युद्ध स्थल से 30 मील दूर शाहपुर भाग गए। सुहेल खाँ के सैनिकों ने जब मध्य भाग पर आक्रमण किया तो तोपों के सीधे आक्रमण से बचने के लिए वह वहाँ से हट गया, परन्तु राजा अलीखाँ बीच में आ गया। व्यापक नर संहार के बाद अंधेरा हो जाने के कारण दोनों पक्षों ने एक-दूसरे की हार का अनुमान लगाकर वहाँ से भाग गए। प्रात: काल जब मुगल सैनिक नदी पर पानी लेने गए तो सुहेल खाँ ने 25000 घुड़सवार सेना के साथ आक्रमण कर दिया।

खानखाना के पास इस समय कुल 7000 सैनिक थे। तीनों सेनाओं के महत्त्वपूर्ण सैनिक मारे गए थे। कहा जाता है कि दौलतखाँ लोदी (जिसे अजीज कोका ने रहीम को दिया था और कहा था कि इसकी सेवा करो, खानखाना बन जाओगे) उस समय सेनापति खानखाना का मुख्य रक्षक था। उसने सुहेल खाँ द्वारा हाथियों और तोपों को आगे बढ़ाया जाते देखकर खानखाना से कहा, "हमारे पास 600 घुड़सवार हैं। फिर भी मैं शत्रु के केन्द्र पर आक्रमण करूँगा।"

सेनापति खानखाना ने कहा, "क्या तुम्हें दिल्ली का स्मरण नहीं है।" दौलत खाँ ने उत्तर दिया, "अगर हम इन विषमताओं से सुरक्षित रह गए तो सैकड़ों दिल्लियाँ ढूँढ लेंगे।" बड़हा के सैयद यह वार्तालाप सुन रहे थे। वे दौलतखाँ लोदी से बोले, "जब कुछ नहीं बचा है सिवाय मृत्यु के तो आइए, हम सब हिन्दुस्तानियों की तरह लड़ें। लेकिन आप खानखाना से यह पूछिए कि वह क्या चाहते हैं।"

दौलतखाँ लोदी ने घूमकर खानखाना से कहा, "हमारे सामने विशाल सेना खड़ी है। विजय अल्लाह के हाथ में है। कृपया यह बताइए कि अगर आप हार गए तो हम लोग आपको कहाँ पर पाएँगे।" खानखाना ने कहा, "लाशों के नीचे।" फिर दौलत खाँ और सैयदों ने आदिलशाही सेना के मध्य भाग पर सीधे आक्रमण कर दिया। इस युद्ध में शत्रु पराजित हुए और सुहेल खाँ बेहोश होकर मैदान में गिर पड़ा, जिसे बाद में दक्षिणी उठाकर भाग गए।

विपत्तियों के बादल

कहा जाता है कि खानखाना ने उस दिन 75 लाख रुपये बाँट दिए। इस महान् विजय के बाद भी खानखाना और शहजादा मुराद में मतभेद बढ़ते गए। शहजादे के कहने पर खानखाना को वापस बुला लिया गया। यह रहीम के दु:ख का समय था। उनका संरक्षक और बादशाह उनसे नाराज था ही, इसी बीच उनका सबसे प्रिय पुत्र हैदर कुली जलकर मर गया। लाहौर से लौटते समय अम्बाला में माहबानो अधिक बीमार हो गईं। वह पुत्र की मृत्यु नहीं झेल सकीं और अम्बाला में ही सन् 1598 में उनकी मृत्यु हो गई। दक्षिण से लौटने पर खानखाना केवल साल भर दरबार में रहे। यह समय उनके दुख, अपमान और सन्ताप का था। 29 अक्टूबर, 1599 को बादशाह अकबर ने शहजादा दानियाल को दक्षिण में नियुक्त करके रहीम को उसका अभिभावक बना दिया। साथ ही दक्षिण कमान का सेनापति पद देकर अहमदनगर का किला फतह करने के लिए भेजा। दानियाल और रहीम अहमदनगर किले का चार माह चार दिन तक घेरा डाले रहे। चाँदबीबी ने जब सन्धि करनी चाही तो हब्शियों ने उन्हें मार डाला और इब्राहीम के पुत्र बहादुर को निजाम बनाकर युद्ध के लिए तैयार हो गए। 16 अगस्त, 1600 को किले की दीवार उड़ा दी गई और हब्शियों की पराजय हुई। रहीम खानखाना बहादुर के साथ दरबार में लौट आए। बहादुर को ग्वालियर के किले में जीवन भर के लिए कैद कर दिया गया। खानखाना ने अपनी पुत्री का विवाह दानियाल से कर दिया। अप्रैल, 1601 में खानखाना अहमदनगर किले को दुरुस्त करने तथा शाह अली (जिसे मलिक अम्बर और राजू दक्षिणी ने निजाम शाह बनाकर गद्दी पर बैठाया था) को दबाव रखने के लिए जब वहाँ पर पहुँचे तो मुगलों के आपसी वैमनस्य एवं दक्षिणियों की एकता से परिस्थिति बदली हुई थी।

दामाद दानियाल की मृत्यु

हब्शी मलिक अम्बर अपनी प्रतिभा, साहस और वीरता से सरदार बन चुका था। उसकी प्रतिष्ठा भी अधिक थी। उसी प्रकार राजू दक्षिणी भी प्रभावशाली था। रहीम खानखाना के नेतृत्व में मलिक अम्बर को दो बार 16 मई, 1601 को मजेरा में अब्दुल रहमान ने और 1602 में नान्देर में खानखाना के पुत्र इरीज ने हराया। इससे खानखाना की प्रतिष्ठा बढ़ गई। इसी बीच दामाद शहजादा दानियाल की सन् 1604 में मृत्यु हो गई। रहीम बिटिया जाना बेगम से बहुत प्यार करते थे। उसने विधवा का जीवन व्यतीत किया जो रहीम के लिए बहुत ही हृदय विदारक था। रहीम इस दु:ख से उबर नहीं पाए थे कि उनके संरक्षक महान् सम्राट अकबर सन् 1605 में परलोक सिधार गए।

जहाँगीर से भेंट

अकबर की मृत्यु के बाद रहीम बादशाह जहाँगीर से मिलने के लिए चिट्टियाँ लिखते रहे। अन्तत: उन्हें दरबार में उपस्थित होने की अनुमति मिल गई। सन् 1608 में खानखाना बहुमूल्य उपहारों के साथ दरबार में अत्यन्त उल्लास के साथ उपस्थित हुए। वह उस समय बहुत ही भावुक हो उठे थे। उन्हें यह भी भान न रहा कि वे सिर के बल चल कर आए हैं या पैर से। विह्वलता से उन्होंने अपने को बादशाह जहाँगीर के पैरों में डाल दिया, लेकिन जहाँगीर ने दयालुता से उन्हें उठाकर अपनी छाती से लगा लिया। फिर उनका मुख चूमा।

खानखाना ने जहाँगीर को मोतियों के दो हार, कई हीरे एवं माणिक भेंट किए, जिनका मूल्य तीन लाख रुपये था। इसके अतिरिक्त कई अन्य वस्तुएँ भी भेंट कीं। बादशाह जहाँगीर ने विशिष्ट घोड़े और 20 हाथी प्रदान करके उन्हें सम्मानित किया। खानखाना तीन महीने तीन दिन दरबार में रहकर दो वर्ष में दक्षिण विजय का आश्वासन देकर यथेष्ट सहायता लेकर दक्षिण की ओर चले गए। खानखाना घनघोर बरसात में शहजादा खुर्रम के साथ बुरहानपुर से बालाघाट की ओर बढ़ चले। परन्तु मुगल सरदारों के बीच असहमति के कारण उनकी युद्धनीति असफल हो गई। मलिक अम्बर ने सामने युद्ध न करके छापामार लड़ाई लड़ी। मुगल सेना की रसद सामग्री समाप्त होने लगी। हाथी-घोड़े मरने लगे। खानखाना के मित्र भी उनके शत्रु हो गए। फलत: उन्हें मलिक अम्बर से जहाँगीर की प्रतिष्ठा के अनुकूल सन्धि करनी पड़ी।

इन सबसे बादशाह जहाँगीर बहुत ही नाराज हुआ। उसने खान-ए-जहाँ लोदी को रहीम का उत्तराधिकारी बनाकर भेजा। साथ ही साथ उनके पुराने शत्रु महावत खाँ को पराजित सेनापति को दरबार में लाने का काम सौंपा। महावत खाँ के साथ जब खानखाना लौटे तो उन्हें आगरा शहर में प्रवेश नहीं करने दिया गया। जब बादशाह मिला भी तो उसने रहीम की ओर ध्यान नहीं दिया। रहीम के पुत्रों - इरीज और दाराब को साम्राज्य की प्रशंसनीय सेवाओं के लिए उपाधियों एवं पारितोषकों से सम्मानित किया गया। दाराब को जागीर के रूप में गाजीपुर प्रदान किया गया। इस विपत्ति में खानखाना के मित्रों ने उनका साथ छोड़ दिया। काफी समय वे चिन्तित अवस्था में दरबार में ही रहे। फिर कुछ दिनों के बाद आगरा प्रान्त में कालपी और कन्नौज की जागीर देकर वहाँ के उपद्रवों को शान्त करने के लिए भेजा गया। सन् 1610 से 1612 तक खानखाना कालपी में ही रहे।

दक्षिण में रहीम की स्थिति को समझते हुए जहाँगीर ने शहजादा खुर्रम की शादी रहीम की नतिनी और शाहनवाज खाँ की लड़की से 23 अगस्त, 1617 को करवा दी। खानखाना से वैवाहिक सम्बन्धों, बादशाह की निकट ही उपस्थिति और शहजादे का विशाल सेना के साथ मुहाने पर होना आदि स्थितियों ने दक्षिण के शासकों को समझौते के लिए विवश कर दिया। आदिल शाह ने 15 लाख रुपए मूल्य के सामान और नकदी के साथ हाथी आदि उपहार में भेजकर अधीनता स्वीकार कर ली। फिर इतना ही सामान और नकदी कुतुब मलिक ने भी भेजकर अधीनता स्वीकार कर ली। अब मलिक अम्बर के पास कोई चारा न था। अन्ततः उसे भी अधीनता स्वीकार करनी पड़ी।

साहित्यिक परिचय

भक्तिकाल हिन्दी साहित्य में रहीम का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने अरबी, फारसी, संस्कृत, हिन्दी आदि का गहन अध्ययन किया। वे राजदरबार में अनेक पदों पर कार्य करते हुए भी साहित्य सेवा में लगे रहे। रहीम का व्यक्तित्व बहुत प्रभावशाली था। वे स्मरण शक्ति, हाजिर-जवाबी, काव्य और संगीत के मर्मज्ञ थे। वे युद्धवीर के साथ-साथ दानवीर भी थे। अकबर के दरबारी कवि गंग के दो छन्दों पर रीझकर इन्होंने 36 लाख रुपये दे दिए थे। रहीम ने अपनी कविताओं में अपने लिए 'रहीम' के बजाए 'रहिमन' का प्रयोग किया है। वे इतिहास और काव्य जगत में अब्दुल रहीम खानखाना के नाम से प्रसिद्ध हैं। रहीम मुसलमान होते हुए भी कृष्ण भक्त थे। उनके काव्य में नीति, भक्ति-प्रेम तथा शृंगार आदि

के दोहों का समावेश है। साथ ही जीवन में आए विभिन्न मोड़ भी परिलक्षित होते हैं।

रहीम की भाषा

रहीम ने अपने अनुभवों को सरल और सहज शैली में मार्मिक अभिव्यक्ति प्रदान की। उन्होंने ब्रज भाषा, पूर्वी अवधी और खड़ी बोली को अपनी काव्य भाषा बनाया। किन्तु ब्रज भाषा उनकी मुख्य शैली थी। गहरी से गहरी बात भी उन्होंने बड़ी सरलता से सीधी-सादी भाषा में कह दी। भाषा को सरल, सरस और मधुर बनाने के लिए तद्भव शब्दों का अधिक प्रयोग किया।

रहीम अरबी, तुर्की, फारसी, संस्कृत और हिन्दी के अच्छे जानकार थे। हिन्दू-संस्कृति से ये भली-भाँति परिचित थे। इनकी नीतिपरक उक्तियों पर संस्कृत कवियों की स्पष्ट छाप परिलक्षित होती है।

कुल मिलाकर इनकी 11 रचनाएँ प्रसिद्ध हैं। इनके प्रायः 300 दोहे 'दोहावली' नाम से संग्रहीत हैं। मायाशंकर याज्ञिक का अनुमान था कि इन्होंने सतसई लिखी होगी किन्तु वह अभी तक प्राप्त नहीं हो सकी है। दोहों में ही रचित इनकी एक स्वतन्त्र कृति 'नगर शोभा' है। इसमें 142 दोहे हैं। इसमें विभिन्न जातियों की स्त्रियों का शृंगारिक वर्णन है।

रहीम अपने बरवै छन्द के लिए प्रसिद्ध हैं। इनका 'बरवै है। इनका 'बरवै नायिका भेद' अवधी भाषा में नायिका-भेद का सर्वोत्तम ग्रन्थ है। इसमें भिन्न-भिन्न नायिकाओं के केवल उदाहरण दिये गये हैं। मायाशंकर याज्ञिक ने काशीराज पुस्तकालय और कृष्णबिहारी मिश्र पुस्तकालय की हस्त लिखित प्रतियों के आधार पर इसका सम्पादन किया है। रहीम ने बरवै छन्दों में गोपी-विरह वर्णन भी किया है।

मेवात से इनकी एक रचना 'बरवै' नाम की इसी विषय पर रचित प्राप्त हुई है। यह एक स्वतन्त्र कृति है और इसमें 101 बरवै छन्द हैं। रहीम के शृंगार रस के 6 सोरठे प्राप्त हुए हैं। इनके ' शृंगार सोरठ' ग्रन्थ का उल्लेख मिलता है किन्तु अभी यह प्राप्त नहीं हो सका है।

रहीम की एक कृति संस्कृत और हिन्दी खड़ी बोली की मिश्रित शैली में रचित 'मदनाष्टक' नाम से मिलती है। इसका वर्ण्य-विषय कृष्ण की रासलीला है और इसमें मालिनी छन्द का प्रयोग किया गया है। इसके कई पाठ प्रकाशित हुए हैं। 'सम्मेलन पत्रिका' में प्रकाशित पाठ अधिक प्रामणिक माना जाता है।

इनके कुछ भक्ति विषयक स्फुट संस्कृत श्लोक 'रहीम काव्य' या 'संस्कृत काव्य' नाम से प्रसिद्ध हैं। कवि ने संस्कृत श्लोकों का भाव छप्पय और दोहा में भी अनूदित कर दिया है।

कुछ श्लोकों में संस्कृत के साथ हिन्दी भाषा का प्रयोग हुआ है। रहीम बहुज्ञ थे। इन्हें ज्योतिष का भी ज्ञान था। इनका संस्कृत, फारसी और हिन्दी मिश्रित भाषा में' खेट कौतुक जातकम्' नामक एक ज्योतिष ग्रन्थ भी मिलता है किन्तु यह रचना प्राप्त नहीं हो सकी है। 'भक्तमाल' में इस विषय के इनके दो पद उद्धृत हैं। विद्वानों का अनुमान है कि ये पद 'रासपंचाध्यायी' के अंश हो सकते हैं।

रहीम ने 'वाकेआत बाबरी' नाम से बाबर लिखित आत्मचरित का तुर्की से फारसी में भी अनुवाद किया था। इनका एक 'फारसी दीवान' भी मिलता है।

रहीम के काव्य का मुख्य विषय शृंगार, नीति और भक्ति है। इनकी विष्णु और गंगा सम्बन्धी भक्ति-भावमयी रचनाएँ वैष्णव-भक्ति आन्दोलन से प्रभावित होकर लिखी गयी हैं। नीति और शृंगारपरक रचनाएँ दरबारी वातावरण के अनुकूल हैं। रहीम की ख्याति इन्हीं रचनाओं के कारण है। बिहारी लाल और मतिराम जैसे समर्थ कवियों ने रहीम की शृंगारिक उक्तियों से प्रभाव ग्रहण किया है। व्यास, वृन्द और रसनिधि आदि कवियों के नीति विषयक दोहे रहीम से प्रभावित होकर लिखे गये हैं। रहीम का ब्रजभाषा और अवधी दोनों पर समान अधिकार था। उनके बरवै अत्यन्त मोहक प्रसिद्ध है कि तुलसीदास को 'बरवै रामायण' लिखने की प्रेरणा रहीम से ही मिली थी। 'बरवै' के अतिरिक्त इन्होंने दोहा, सोरठा, कवित्त, सवैया, मालिनी आदि कई छन्दों का प्रयोग किया है।

रचनाएँ

रहीम अनेक भाषाओं के ज्ञाता थे। उन्होंने तुर्की भाषा के एक ग्रन्थ 'वाकयात बाबरी' का फारसी में अनुवाद किया। फारसी में अनेक कविताएँ लिखीं। 'खेट कौतूक जातकम्' नामक ज्योतिष ग्रन्थ लिखा, जिसमें फारसी और संस्कृत शब्दों का अनूठा मेल था। इनका काव्य इनके सहज उद्‌गारों की अभिव्यक्ति है। इन उद्‌गारों में इनका दीर्घकालीन अनुभव निहित है। ये सच्चे और संवेदनशील हृदय के व्यक्ति थे। जीवन में आने वाली कटु-मधुर परिस्थितियों ने इनके हृदय-पट पर जो बहुविध अनुभूति रेखाएँ अंकित कर दी थीं, उन्हीं के अकृत्रिम अंकन में इनके काव्य की रमणीयता का रहस्य निहित है। इनके 'बरवै नायिका भेद' में काव्य रीति का पालन ही नहीं हुआ है, वरन् उसके माध्यम से

भारतीय गार्हस्थ्य-जीवन के लुभावने चित्र भी सामने आये हैं। मार्मिक होने के कारण ही इनकी उक्तियाँ सर्वसाधारण में विशेष रूप से प्रचलित हैं। रहीम-काव्य के कई संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। इनमें-

रहीम रत्नावली (सं. मायाशंकर याज्ञिक-1928 ई.) और

रहीम विलास (सं. ब्रजरत्नदास-1948 ई., द्वितीयावृत्ति) प्रामाणिक और विश्वसनीय हैं। इनके अतिरिक्त

रहिमन विनोद (हि. सा. सम्मे.),

रहीम 'कवितावली (सुरेन्द्रनाथ तिवारी),

रहीम' (रामनरेश त्रिपाठी),

रहिमन चंद्रिका (रामनाथ सुमन),

रहिमन शतक (लाला भगवानदीन) आदि संग्रह भी उपयोगी हैं।

रहीम के दोहे

रहिमन धागा प्रेम का मत तोडो छिटकाय।
टूटे तो फिर ना मिले मिले गांठ पड जाए।।
रहिमन दानि दरिद्रतर, तऊ जांचिबे योग।
ज्यों सरितन सूख परे, कुआं खनावत लोग।।

कविवर रहीम कहते हैं कि यदि कोई दानी मनुष्य दरिद्र भी हो तो भी उससे याचना करना बुरा नहीं है क्योंकि वह तब भी उनके पास कुछ न कुछ रहता ही है। जैसे नदी सूख जाती है तो लोग उसके अंदर कुएं खोदकर उसमें से पानी निकालते हैं।

रहिमन देखि बड़ेन को, लघु न दीजिए डारि।
जहां काम आवै सुई, कहा करै तलवारि।।

कविवर रहीम के अनुसार बड़े लोगों की संगत में छोटों की उपेक्षा नहीं करना चाहिए क्योंकि विपत्ति के समय उनकी भी सहायता की आवश्यकता पड़ सकती है। जिस तरह तलवार के होने पर सुई की उपेक्षा नहीं करना चाहिए क्योंकि जहां वह काम कर सकती है तलवार वहां लाचार होती है।

एकै साधे सब सधैं, सब साधे सब जाय।
रहिमन मूलहि सींचिबो, फूलै फलै अघाय।।
कह रहीम कैसे निभे, बेर केर का संग।
यै डोलत रस आपने, उनके फाटत अंग।।

खीरा सिर ते काटिए, मलियत लौन लगाय।
रहिमन करुए मुखन को, चहियत इहै सजाय।।
छिमा बड़ेन को चाहिए, छोटन को उत्पात।
का रहीम हरि को घटयौ, जो भृगु मारी लात।।

रहीम एक सहृदय स्वाभिमानी, उदार, विनम्र, दानशील, विवेकी, वीर और व्युत्पन्न व्यक्ति थे। ये गुणियों का आदर करते थे। इनकी दानशीलता की अनेक कथाएं प्रचलित हैं। इनके व्यक्तित्व से अकबरी दरबार गौरवान्वित हुआ था और इनके काव्य से हिन्दी समृद्ध हुई है।

विशेष बिंदु

जब ये कुल 5 वर्ष के ही थे, गुजरात के पाटन नगर में (1561 ई.) इनके पिता की हत्या कर दी गयी। इनका पालन-पोषण स्वयं अकबर की देख-रेख में हुआ।

इनकी कार्यक्षमता से प्रभावित होकर अकबर ने 1572 ई. में गुजरात की चढ़ाई के अवसर पर इन्हें पाटन की जागीर प्रदान की। अकबर के शासनकाल में उनकी निरन्तर पदोन्नति होती रही।

- 1576 ई. में गुजरात विजय के बाद इन्हें गुजरात की सूबेदारी मिली।
- 1579 ई. में इन्हें 'मीर अर्जु' का पद प्रदान किया गया।
- 1583 ई. में इन्होंने बड़ी योग्यता से गुजरात के उपद्रव का दमन किया।

प्रसन्न होकर अकबर ने 1584 ई. में इन्हें 'खानखाना' की उपाधि और पंचहजारी का मनसब प्रदान किया।

- 1589 ई. में इन्हें 'वकील' की पदवी से सम्मानित किया गया।
- 1604 ई. में शहजादा दानियाल की मृत्यु और अबुलफजल की हत्या के बाद इन्हें दक्षिण का पूरा अधिकार मिल गया। जहाँगीर के शासन के प्रारम्भिक दिनों में इन्हें पूर्ववत सम्मान मिलता रहा।
- 1623 ई. में शाहजहाँ के विद्रोही होने पर इन्होंने जहाँगीर के विरुद्ध उनका साथ दिया।
- 1625 ई. में इन्होंने क्षमा याचना कर ली और पुनः 'खानखाना' की उपाधि मिली।
- 1626 ई. में 70 वर्ष की अवस्था में इनकी मृत्यु हो गयी।

खान ए खाना के नाम से प्रसिद्ध यह मकबरा अब्दुर्रहीम खानखाना का है, जो मुगल बादशाह अकबर एवं जहाँगीर के शासनकाल के प्रतिभाशाली एवं प्रसिद्ध दरबारी थे।

खान ए खाना मकबरे का निर्माण अब्दुर्रहीम खानखाना के द्वारा अपनी बेगम की याद में करवाया गया था, जिनकी मृत्यु 1598 ई. में हो गयी थी। बाद में स्वयं अब्दुर रहीम को 1627 ई. में उनके मृत्यु के पश्चात् इसी मकबरे में दफनाया गया।